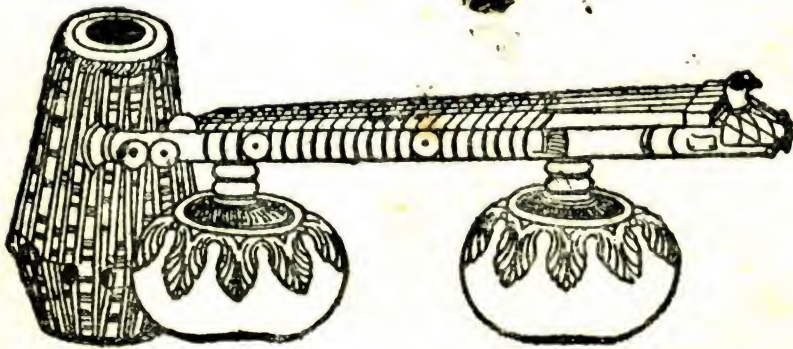


dhrupad annual

1990

ध्रुपद वार्षिकी

१९९०



OBJECTIVES :

1. To present a chronicle of the wave of scholarly and popular awakening about Dhrupad that originated a few years ago.
2. To stimulate and promote scholarly work about Dhrupad.
3. To prepare reference material for research on various aspects of Dhrupad.

Bilingual Nature of the Journal :

Articles in English have been summarised in Hindi and *vice versa*.

Subscriptions : Rs. 50/- Inland; Foreign \$ 10.

उद्देश्य :

१. गत कुछ वर्षों में ध्रुपद के सम्बन्ध में विशेष (विद्वज्जनोचित) और सामान्य जागरण की जो लहर उठी है, उसका काल-क्रमानुसारी विवरण प्रस्तुत करना ।
२. ध्रुपद को लेकर विद्वत्तापूर्ण कार्य को प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करना ।
३. ध्रुपद के विभिन्न पक्षों पर शोधकार्य के लिए सामग्री प्रस्तुत करना ।

पत्रिका का द्विभाषामय स्वरूप :

अंग्रेजी लेखों का हिन्दी में और हिन्दी लेखों का अंग्रेजी में सार-संक्षेप प्रस्तुत है ।

शुल्क : भारत में ५० रु०; विदेश में १० डालर

DHRUPAD ANNUAL 1990

Vol. V

ध्रुपद वार्षिकी १९९०

पञ्चमाङ्क (महाशिवरात्रि वि० सं० २०४६)



Maharaja Banaras Vidya Mandir Trust

Board of Editors

सम्पादक मण्डल

Dr. (Mrs.) Kapila Vatsyayan (Delhi) डॉ० (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन (दिल्ली)

Dr. K. C. Gangrade (Varanasi) डॉ० कै० चं० गंगराडे (वाराणसी)

Dr. Subhadra Chaudhari

(Khairagarh) डॉ० सुभद्रा चौधरी (खैरागढ़)

Dr. Ritwik Sanyal (Varanasi) डा० ऋत्विक् सान्याल (वाराणसी)

Associate Editor

सह सम्पादक

Dr. Ganga Sagar Rai (Varanasi) डा० गंगासागर राय (वाराणसी)

Editor

सम्पादिका

Prof. Prem Lata Sharma (Varanasi)

प्रो० प्रेमलता शर्मा (वाराणसी)

अनुक्रमणिका

Table of Contents

शीर्षक Title	पृष्ठ-संख्या
१. श्रद्धाञ्जलि	५
1. Homage	5
२. सम्पादकीय	६
3. Dhrupad News	7
<i>Dr. Ritwik Sanyal and Ms. L. Bastit</i>	
३. ध्रुपद समाचार (सम्पादिका-कृत हिन्दी अनुवाद)	१२
४. अकबर-जहाँगीर-कालीन संगीतकारों के कुछ सन्दर्भ प्रो० राय आनन्द कृष्ण	१७
4. Some References Pertaining to Musicians of the Time of Akbar and Jehangir	22
<i>Prof. Rai Ananda Krishna (Editor's Summary)</i>	
५. म'आरिफुन्नगमात और क्रमिक पुस्तकमालिका में संकलित समान ध्रुपदों के पाठ की तुलनात्मक सारणी डा० राधेश्याम जायसवाल	२८
5. A Collative Table of the Reading of Common Dhrupad Texts Compiled in M'arifunnaghmat and Kramik Pustak Mālikā	47
<i>Dr. Radheshyam Jaiswal (Editor's Summary)</i>	
६. तमिळ् दिव्यप्रबन्धम् का संगीतपरक अध्ययन : एक आरम्भ प्रो० प्रेमलता शर्मा	४८
6. An Introduction to Tamil Divya Prabandham and its Musical Study.	55
<i>Prof. Prem Lata Sharma (Editor's Summary)</i>	
7. Dhrupad : Swimming in Sound	57
<i>Ms. Harriotte Hurie Ranvig</i>	
७. ध्रुपद : स्वर में तैरना श्रीमती हेरियट ह्यूरी रेन्विग (सम्पादिका-कृत सार-संक्षेप)	५९

८.	ध्रुपद : द्वन्द्व से द्वन्द्वातीत होने का अनुभव प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी	६०
8.	Dhrupad : An Experience of Transcending Duality Prof. K. D. Tripathi (Editor's summary)	62
9.	The Dāgar Tradition : Characteristics of Ālāpa <i>Dr. Ritwik Sanyal</i>	64
९.	डागर-परम्परा की विशिष्टताएँ ऋत्विक् सान्याल (सम्पादिका-कृत सार-संक्षेप)	६८
१०.	अमर ध्रुपद-साधक भक्त पण्डित शिवप्रसाद त्रिपाठी 'गायनाचार्य' श्रीमती मंगला तिवारी	७१
11.	Pt. Shiv Prasad Tripathi : Gāyanāchārya The Immortal Musician and Devotee Mangala Tiwari (Editor's Summary)	75
१२.	वेद एवं पुराणों में ध्रुपदोपजीव्य शब्द—स्तुति एवं कीर्तन पं० विनायक रामचन्द्र रटाटे	७६
12.	Stuti and Kirtan—Two Source Words of Dhrupad in Vedas and Purāṇas Pt. V. R. Ratate (Editor's summary)	81
१३.	भारतीय संगीत जगत् का प्रकाशस्तम्भ ध्रुपद डॉ० आदिनाथ उपाध्याय	८२
13.	Dhrupad : the Beacon of Indian Music Dr. Adi Nath Upadhyay (Editor's Summary)	92
14.	The Verbal Content of Dhrupad Songs from the Earliest Collections I The <i>Hazar Dhrupad</i> or <i>Sahasras</i> <i>Dr. (Ms) Francoise Delvoye 'Nalini'</i>	93
१४.	आदिम संग्रहों के ध्रुपद-पदों का कथ्य विषय I हजार ध्रुपद अथवा सहस्रस डॉ० सुश्री फ्रांस्वाज़ देल्वुआ 'नलिनी' (सम्पादिका-कृत सार-संक्षेप)	११०
15.	Our Contributors	112
१५.	हमारे निबन्ध-लेखक	११४
16.	Editor's Note	116

श्रद्धाञ्जलि

वरिष्ठ ध्रुपद-गायक पण्डित रामचतुर मल्लिक (जन्म ५ अक्टूबर, १९०६), का ११ जनवरी, १९९० को पटना में देहान्त हो गया। आपके निधन से एक उच्च कोटि के सर्जनात्मक चित्त की हानि हो गयी है, जो कि संगीतात्मक सीमाओं की खोज में रत रहता था और कला में शुद्धता तथा संयम की रक्षा के प्रति समर्पित था। जिस ईमानदारी से आप परम्परागत मुहावरे का स्थायी व्यक्तिगत 'कथन' के लिए उपयोग करते थे, उसके लिए आप चिरकाल तक स्मरणीय रहेंगे। सामान्य रूप से समग्र भारतीय संगीत और विशेष रूप से दरभंगा की ध्रुपद-परम्परा की यह महती हानि है। दिवंगत आत्मा को ध्रुपद वार्षिकी की भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

(सुश्री सबीना सहगल के लेख से साभार)

HOMAGE

Pandit Ram Chatur Mallik (born Oct. 5, 1906), the doyen of dhrupad vocal, died on January 11, 1990. In his death, a highly creative musical mind that addressed itself to the frontiers of musical possibilities and upheld the finest values of purity and restraint has been lost. He will be long remembered for the integrity with which he used the traditional idiom to make an enduring personal statement. Indian music in general and the Darbhanga Dhrupad tradition in particular is poorer on account of this great loss.

(With apology to Ms. Sabina Sehgal)

सम्पादकीय

ध्रुपद वार्षिकी के पाँच वर्ष पूरे हो गए। इन पाँच अंकों में जो सामग्री प्रस्तुत हुई है, उसका सिंहावलोकन या पुनर्दर्शन उचित होगा।

किसी भी भारतीय संगीत-विधा का अध्ययन (प्रशिक्षण नहीं) उसके गठन या अंग-विन्यास, 'पद' के कथ्य या वर्ण्य विषय, राग-ताल-संयोजन, 'निबद्ध'- 'अनिबद्ध' के विश्लेषण आदि पर ही मुख्यतः केन्द्रित हो सकता है। तदनुसार हमने ध्रुपद के 'धातु' (स्थायी या 'ध्रुव', अन्तरा आदि) के विन्यास, अब तक सम्बन्ध पद-केन्द्रित अध्ययन की समीक्षा, उसके लक्षण या परिभाषा का विश्लेषण, पद-केन्द्रित अध्ययन को आगे बढ़ाने की दिशा में महत्वपूर्ण चरण के रूप में फारसी स्रोतों की प्रस्तुति, 'छाप' से उठने वाली समस्याएं, पदों में प्राप्त संगीतशास्त्र की परिभाषिक शब्दावली, तालयोजना, नृत्य से सम्बन्ध, आज जीवित दो प्रमुख परम्पराओं—दरभंगा और 'डागर' (साथ ही बेतिया भी) का परिचयात्मक विवरण इत्यादि पर प्रथम चार अंकों में मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत की है। साथ ही, पुरुषोत्तम-दासजी पखावजी पर केन्द्रित अध्ययन-परक लेख द्वारा उत्तर भारतीय मन्दिर-व्यवस्था की संगीत-परम्परा के समाजशास्त्रीय अध्ययन का सूत्रपात किया गया है। चर्यांगीति के साथ ध्रुपद के उद्देश्यगत साम्य की संभावना का भी संकेत किया गया है।

प्रस्तुत अंक में कुछ नई दिशाओं में चरण बढ़ाए गए हैं। यथा—पारखी श्रोताओं द्वारा ध्रुपद के समग्र प्रभाव का वर्णन, तमिल दिव्यप्रबन्धम् के संगीतपरक अध्ययन का सूत्रपात, जिससे ध्रुपद की व्यापक पृष्ठ भूमि की खोज आगे बढ़ सके, ध्रुपद के पदों के आदिम संग्रह सहस्रस से उसके पद-पक्ष के गहन अध्ययन का आरम्भ, ध्रुपद के दरवारी स्वरूप के अतिरिक्त उसके भक्तिमय मूल की वेद-पुराण में खोज, देश-व्यापी 'कीर्तन' की परम्पराओं में उसकी व्याप्ति का दर्शन, पदों के पाठ-संशोधन के लिए तुलनात्मक सामग्री की प्रस्तुति इत्यादि। विष्णुपद और ध्रुपद के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन भी इसी प्रसंग में आगे बढ़ सकेगा ऐसी आशा है। ध्रुपद का 'पद' साहित्य और संगीत दोनों की दृष्टि से अध्ययन और आस्वादन के योग्य है, यह भारतीय संगीत की एक अनन्य विशिष्टता है। डागर-परम्परा के स्वरोच्चार, आलापचारी के वैशिष्ट्य आदि का वर्णन भी क्रमशः चलता रहा है और आगे भी चलेगा। ध्रुपद-गायकों की जीवनियों का भी स्वल्प आरम्भ हो चुका है।

भविष्य में ऊपर लिखी दिशाओं में आगे बढ़ने के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार के गाँवों में उपलब्ध ध्रुपद-परम्परा का परिचय देने की इच्छा है। आन्ध्र प्रदेश की गीत-विधा 'दरु' के साथ ध्रुपद का सम्बन्ध भी अनुसन्धान का विषय है। यथावसर उसे भी प्रस्तुत करने की इच्छा है।

कुल मिलाकर ध्रुपद-सम्बन्धी लिखित और वाचिक सामग्री की समन्वित प्रस्तुति और उसका समीक्षात्मक अध्ययन हमारा उद्देश्य है। लिखित सामग्री में पुस्तक-सूची की प्रस्तुति इस पत्रिका का विशिष्ट योगदान है।

DHRUPAD NEWS

RITWIK SANYAL AND L. BASTIT

Here is the annual report of the numerous dhrupad festivals and concerts held in India and abroad between Feb '89 and Feb '90. The number shows an upward trend.

1. **Varanasi** : March 1989. The 1989 Dhrupad Mela was the 15th consecutive annual held on the 4th, 5th and 6th March. Organised by the Maharaja Banaras Vidyamandir Trust at Tulsi Ghat, it had Dr. Raghunath Singh, Mahant Prof. Veerbhadra Mishra and Pt. Batuk Prasad Sharma opening the mela on the inaugural day. All of them emphasised the need of propagating dhrupad all the more on different levels all over the country. Professor Veerbhadra made flawless arrangements like previous years and the Mela was a grand success.

This year the Mela will be missing Shri Chhannulal, whose untimely demise has left a void amongst the Dhrupad Samiti workers. He will always be remembered for his untiring and selfless volunteering and devotion in organising the mela.

The vocalists, instrumentalists and pakhawajis who performed at the mela were : Pt. Siyaram Tiwari, Pt. Vidur Mallik, Shri Abhay Narayn Mallik, Ud Fahimuddin Dagar, Ud Sayeeduddin Dagar, Pt Mahadev Mishra, Shri Ritwik Sanyal, Raja Chhatrapati Singh, Swami Pagaldas, Pt. Laxman Bhatt Telang, Pawar Bandhu, Shri Jyotin Bhattacharya, Shri Rajeshwar Acharya, Shri Asit Kumar Banerji, Shri Arun Bhattacharya, Sarvasri Uday Kumar Mallik, Manik Munde, Chaudhuri Sahebji, Ravishankar Upadhyay, Shrikant Mishra, Gauri Shankar, Ramji Upadhyay, Sukhdev Chaturvedi, Shrikant Mishra, Gauri Shankar, Ramji Upadhyay, Sukhdev Chaturvedi, Gopal Chandra Pal, Rajkhushi Ram, Raj Kumar Jha, Chanchal Bhattacharya, Santoshkumar Mishra, Babulal Pakhawaji, Dinesh Prasad, Prem Kumar Mallik, Tribhuvan Upadhyay, Rajbhan Singh, Gunendra Mukherji, Rajesh Chaturvedi, Sacchchidananda Soni, Saket Maharaj and Ratan Lal.

2. **Delhi** : Feb 1989. The Dhrupad Society, Delhi held its 5th Dhrupad Samaroh despite the sudden demise of its president, Ud. Faiyazuddin Dagar. The three-day festival from Feb. 23 to Feb. 25 became a mystical musical tribute to his memory. Its reputation for excellence was reaffirmed by the recital of the veteran Ram Chatur Mallick, the

jugalbandi of Ud N Z Dagar and Faiyaz Wasifuddin Dagar, the son of the departed Ustad, Begum Asgari Bai, Ud Sayeeduddin Dagar, Ud Asad Ali Khan (Veena), Ud Imrat Khan (surbahar), and Raja Chhatrapati Singh (pakhawaj).

3. **Delhi** : March 1989. From the 9th to 12th March 1989, the Dhrupad Society held its Parampara Parichay at Triveni Chamber Theatre. The spirit of these guru-shishya programmes is to give the student his guru's audience that includes connoisseurs and veterans. The participating shishyas and gurus were respectively : Faiyazuddin Wasi-fuddin Dagar, first solo, then with Ud N Zahiruddin Dagar; Miss Agle and a boy student on pakhawaj, then with Raja Chhatrapati Singh; Gundecha brothers and Ud Zia Fariduddin Dagar.

4. **Brindavan** : March '89. The Chaitanya Prema Sansthan, Jai Singh Ghera, organised its annual Dhrupad Samarooha from 10th March to 13th March. Besides the regular dhrupad items of concert platform' dhrupad of the temple tradition was also performed by local singers.

5. **Lucknow** : April 1989. The Times of India Jugalbandi festival presented Zia Mohiuddin Dagar (veena) and Nasir Zahiruddin Dagar (vocal) in jugalbandi. The locale was the ruins of a former palace in the outskirts of Lucknow. This lent its romantic flavour to the maestros' mysticism.

6. **Delhi** : September '89. From the 18th September to 20th, the Dhrupad Society of Delhi organized at the India International Centre its fourth Parampara Parichay. The audience discovered a few new talents through their gurus. Jayashree Nibandhe from Pune gave her maiden concert and then joined her guru Ud H. Sayeeduddin Dagar. Guru Abhay Narayan Mallik had to perform by himself; his student was indisposed at the last moment. Pushparaj Koshti from Bombay played on the surbahar, later along with his guru Ud Zia Mohiuddin Dagar on the rudraveena.

7. **Bhopal** : October '89. The annual Dhrupad Samaroh was held from October 27 to October 29. It was celebrated as the 60th birthday anniversary of Ustad Zia Mohiuddin Dagar. The festival highlighted three of his eminent disciples Pushparaj Koshti (sitar), Ritwik Sanyal (vocal) and Chandrasekher Naringrekar (surbahar) besides Ustad Zia Fariduddin Dagar and Pt. Abhay Narayan Mallik. Ustadji himself also played on the rudraveena. Each concert had a duration of an hour and a half. The venue was Bharat Bhavan. And the accompaniment on the pakhawaj was provided by Shrikant Mishra of Varanasi and

Manik Munde of Khairagarh. The festival can be cited as a model for other fests in every respect.

8. Gwalior : December. The annual Tansen Samaroh held from the 1st to the 3rd December 1989 included dhrupad items by Ustad Rahim Fahimuddin Dagar and Uday Bhawalkar who is a talented student of Ud Z M Dagar. Manik Munde accompanied both on the pakhawaj. Pt. Ravishankar also gave dhrupad genre recital to the accompaniment of Shri Durgalal.

9. Chandigarh : December' 89. Dhrupad Samaroh was held here for the first time from 7th to 9th December. Among the eminent artistes who participated were : Ud Zia Mohiuddin Dagar, Ud Zia Fariduddin Dagar, Ud Rahim Fahimuddin Dagar and Shri Pushparaj Koshti.

10. Patna : Dec. 89. Bihar Sangit Natak Akademi organised a dhrupad fest from 16th December. The performers were young singers of Betiah gharana, viz. Uday Kumar Mallik & Prithviraj Kumar of Darbhanga, Jagat Narayan Pathak of Motihari, Prerana Shrimali of Delhi (Kathak dance) Raghubir Mallik of Darbhanga, Arun Kumar Misra of Betiah, Indrakisor Misra of Betiah, Asgari Bai of Tikamgarh, Pt. Siyaram Tiwari of Patna, Ud Zia Mohiuddin Dagar from Bombay, Pt. Ram Chatur Mallik of Darbhanga and his grandson Abhay Narayan Mallick, Pannalal Upadhyaya of Patna, Ramji Upadhyaya of Gaya, Ramasish Pathak of Darbhanga, Swami Pagaldas from Ayodhya, Shankarrao Shinde of Ambe-Jogai, Anwar Hussain of Patna, Harendra Dube of Patna, Maqbool Hussain of Darbhanga and Pt. Hanuman Mishra of Varanasi.

11. Delhi : Feb. 1990. The Dhrupad Society held at FICCI Auditorium an evening of homage in memory of Ud Nasir Faiyazuddin Dagar to mark his first death anniversary on the 7th of February 1990. The artistes who offered musical tributes were : Ud N Aminuddin Dagar, Ud R Fahimuddin, Ud N Zahiruddin n, Ud H Sayeeduddin and Faiyaz wasifuddin Dagar, Sujaat Khan, Madhup Mudgal, Iqbal Ahmed Khan, Ritwik Sanyal, Shubha Mudgal, T N Krishnan, Sulochana Brahaspati, C R Vyas, Ud Amjad Ali Khan, Naina Devi, Singh Brothers, Shafaat Ahmed Khan, Sheila Dhar, Debu Chaudhuri, Sumati Mutatkar, Lakshman Bhatt Telang, Savita Devi, Ud Asad Ali Khan, and Biswajit Ray Chaudhuri.

12. Jaipur : Feb. 1990. The 8th Behram Khan Dagar Dhrupad Samaroh scheduled for the end of October '89 was held by the Dhrupad

Society from 9th to 12th February 1990. It featured besides Omprakash Chourasia (Santoor) and Dr. Gopal Sankar Mishra, Ud Zia Fariduddin Dagar and his student Ms Bela Pant, Ud N Zahiruddin in jugalbandi with F Wasifuddin, Ud R Fahimuddin, Ud Sayeeduddin Dagar and Hindraj Divekar (been).

13. Dacca : March 1989. A three day dhrupad fest co-sponsored by the Dhrupad Society-Delhi was held at Dhaka, Hosted by the German Cultural Institute. Representatives from many gharanas performed each evening before a packed hall. A feature of the fest was Pt. Siyaram Tiwari's return to Bangladesh after an interval of decades. Rehmat Ali Khan played on the sarod; Asad Ali Khan on the veena; Zia Mohiuddin Dagar on the rudraveena. A dhrupad singer from Dhaka, Chaturvedi, opened the festival.

14. Lahore : April, 1989. Lahore witnessed the return of Dhrupad after 25 years. Ud N Z Dagar with his nephew F. Wasifuddin was its emissary. (The full list is not available : Ed.).

15. Western Europe : 1989. Ud Zia Mohiuddin Dagar gave intensive training and concerts in Holland. Ud Sayeeduddin Dagar toured France, Belgium, Holland and Germany for concerts, workshops and radio recordings. Ud Rahim Fahimuddin Dagar toured France, Austria, Germany, Denmark, Sweden, and Switzerland giving around 20 concerts, recorded a compact disc in Zurich and conducted two workshops in France.

Paris : Nov.-Dec. 1989. The Dhrupad Society of Paris organised a dhrupad tour of the Dagar Duo : Ud Zahiruddin and his nephew Wasifuddin. They gave three concerts in Paris, held a two day workshop that was recorded by the radio France Musique, and recorded a compact disc in Switzerland to see light in 1990.

Other Activities. Gundecha Brothers of Bhopal performed at Krishna Gan Sabha, Madras, on Dec. 25, '89 and in Delhi under the auspices of Sangit Natak Akademi & ICCR on Jan. 19, '90. Srikant Mishra provided pakhawaj percussion.

Dr. Ritwik Sanyal performed at Calcutta Birla Academy on March 24, '89 and at the ITC Sangit Research Academy in Calcutta on January 24, 1990, with Shri Ashok Tagore on the pakhawaj. He also conducted five dhrupad workshops in Calcutta in the year 1989, gave public concerts among others at Bhilai, Durg and Raipur (17-19 Sept. 89), and recorded a cassette on Shiva dhrupads with Messrs I R C, Calcutta.

The second annual fest of Dhrupad & Kathak was held at Mandu (MP) : the dates and list of artistes have not been received.

Spicmacay presented for lecture demonstrations before students rising dhrupad artists viz. Pushpraj Koshti, Uday Bhawalkar and Gunde-cha Brothers, all of them disciples of Ustad Zia Mohiuddin & Zia Fariduddin Dagar. The teachers being young, the student community felt greater motivation for dhrupad.

Awards. Begum Asgari Bai received *Padmashree* on the Republic Day, Jan, '90. 'Swati-Tirumal' Cash Prizes for 1989 worth Rs. 3000/- each were awarded by Maharaj Banaras VM Trust from the Endowment Fund of Travancore to Swami Pagaldas (pakhawaj) and Pt. Lakshman Bhatt Telang (vocal).

Disc. Ud R Fahimuddin Dagar recorded a compact disc at Zurich. During the Fall 1989, the Dhrupad Society-America was formed in New York (c/o Tim Smith, 11 Furman Lane, Patchogue, NY 11772); it released in collaboration with *Music of the World* a compact disc of Rag Kambhoji recorded by Dagar Brothers (Zaheer-Faiyaz) in March 1988. The I R C of Calcutta produced and published a cassette titled **Songs of Shiva** recited by Ritwik Sanyal.

ध्रुपद समाचार

विभिन्न ध्रुपद समारोहों और संगीत-गोष्ठियों का वार्षिक विवरण (फरवरी '८९, से फरवरी, '९० तक) प्रस्तुत है।

१. वाराणसी—मार्च '८९

५, ६ मार्च को महाराज बनारस विद्यामन्दिर न्यास द्वारा तुलसी घाट पर आयोजित १५ वां क्रमागत ध्रुपद मेला सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उद्घाटन के दिन डॉ० रघुनाथ सिंह, महन्त प्रोफेसर वीरभद्र मिश्र और पं० बटुक प्रसाद शर्मा शुभारम्भ के लिए उपस्थित थे। सभी ने ध्रुपद के प्रचार-प्रसार के लिए देशव्यापी प्रयत्नों की आवश्यकता पर बल दिया। प्रो० श्री वीरभद्र मिश्र ने मेले की सुष्ठु व्यवस्था की थी।

इस वर्ष के मेले में श्रीछन्नूलाल का अभाव बहुत खटकेगा, क्योंकि आप के असामयिक निधन से ध्रुपद समिति के कार्यकर्ताओं में भारी रिक्तता आ गई है। आप के अथक परिश्रम, निःस्वार्थ स्वयंसेवी भावना तथा मेले के आयोजन के प्रति समर्पित भाव के लिए आप का सदैव स्मरण बना रहेगा।

उस मेले में जिन गायकों और तत-वाद्यों तथा पखावज के वादकों ने भाग लिया, उनके नाम हैं—पं० सियाराम तिवारी, पं० विदुर मल्लिक, श्री अभय नारायण मल्लिक, उ० फहीमुद्दीन डागर, उ० सईदुद्दीन डागर, पं० महादेव मिश्र, श्री ऋत्विक् सान्याल, राजा छत्रपति सिंह, स्वामी पागलदास, श्री लक्ष्मण भट्ट तैलंग, पवार बन्धु, श्री ज्योतिन भट्टाचार्य, श्री राजेश्वर आचार्य, श्री असित कुमार वैनर्जी, श्री अरुण भट्टाचार्य, सर्वश्री उदय कुमार मल्लिक, माणिक मुण्डे, चौधुरी साहेबजी, रविशंकर उपाध्याय, श्रीकान्त मिश्र, गौरीशंकर, रामजी उपाध्याय, मुखदेव चतुर्वेदी, गोपालचन्द्र पाल, राजखुशी राम, राजकुमार झा, चंचल भट्टाचार्य, सन्तोषकुमार मिश्र, बाबूलाल पखावजी, दिनेशप्रसाद, प्रेमकुमार मलिक, त्रिभुवन उपाध्याय, राजभान सिंह, गुणेन्द्र मुखर्जी, राजेश चतुर्वेदी, सच्चिदानन्द सोनी, साकेत महाराज और रतन लाल।

२. देहली—फरवरी, १९८९

देहली की ध्रुपद-सीसाइटी ने २३-२५ फरवरी तक अपना पञ्चम ध्रुपद-समारोह सम्पन्न किया, यद्यपि उसके अध्यक्ष उस्ताद फ़ैयाजुद्दीन डागर का उसी मास में अचानक निधन हो गया था। यह समारोह उनकी स्मृति में श्रद्धाञ्जलि बन गया। इसकी उत्कृष्टता वयोवृद्ध (अब दिवंगत) पं० राम चतुर मलिक, उ० ना० ज० डागर और दिवंगत उस्ताद के सुपुत्र फ़ैयाज वसिफ़ुद्दीन डागर की जुगलबन्दी,

बेगम असगरी वाई, उ० सईदुद्दीन डागर, उ० असदअली खाँ बीणा, उ० असदअली खाँ बीणा, उ० इमरतखाँ (सुरबहार) और राजा छत्रपति सिंह (पखावज) के गायन-वादन द्वारा पुनः पुष्ट हुई।

३. देहली—मार्च १९८९

९ से १२ मार्च को 'त्रिवेणी' के लघु प्रेक्षागृह में ध्रुपद सोसायटी का 'परम्परा-परिचय' सम्पन्न हुआ। इस शृंखला में गुरु-शिष्य को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी को गुरु और अन्य रसिकों तथा समीक्षकों के समक्ष अपना गायन-वादन करने का अवसर मिले। सम्मिलित गुरु-शिष्य इस प्रकार थे—फैयाजुद्दीन, वसिफुद्दीन डागर, पहले एकल गायन, फिर उ० ज़िया फरीदुद्दीन डागर के साथ जुगलबन्दी, कु० आगले और एक किशोर द्वारा पहले पखावज पर जुगलबन्दी, फिर अपने गुरु राजा छत्रपति सिंह के साथ वादन, गुण्डेचाबन्धु और उ० ज़िया फरीदुद्दीन डागर।

४. वृन्दावन—मार्च १९८९

श्री चैतन्य प्रेम-संस्थान, जय सिंह घेरा, का वार्षिक ध्रुपद समारोह १०-१३ मार्च में सम्पन्न हुआ। महफ़िली ध्रुपद की प्रस्तुतियों के अतिरिक्त इस में मन्दिरों की गायन-परम्परा का भी समावेश था।

५. लखनऊ—एप्रिल १९८९

'टाइम्स् आफ़ इण्डिया' द्वारा ज़िया मोहिउद्दीन डागर (बीणा) और नासिर जहीरुद्दीन डागर (गायन) की जुगलबन्दी, लखनऊ के बाह्याञ्चल में एक महल के खण्डहर के स्थल पर आयोजित हुई।

६. देहली—सितम्बर १९८९

१८-२० सितम्बर तक दिल्ली की ध्रुपद सोसायटी ने 'इण्डिया इन्टरनेशनल सेन्टर' में अपना चतुर्थ परम्परापरिचय प्रस्तुत किया। इसमें कुछ नई प्रतिभायें सामने आईं। पुर्ण की सृष्टी जयश्री निबन्धे ने अपनी पहली महफ़िल प्रस्तुत की। फिर अपने गुरु उस्ताद सईदुद्दीन डागर के साथ गाया। गुरु अभयनारायण मलिक को स्वयं ही गाना पड़ा क्योंकि उनका छात्र अन्तिम क्षण पर अस्वस्थ हो गया था। बम्बई के श्री पुष्पराज कोष्टि ने पहले सुरबहार पर एकल वादन प्रस्तुत किया, पुनः अपने गुरु उ० ज़िया मोहिउद्दीन डागर (बीणा) का साथ दिया।

७. भोपाल—अक्टूबर १९८९

२७-२९ अक्टूबर तक वार्षिक ध्रुपद समारोह उ० ज़िया मोहिउद्दीन डागर के ६० वें जन्मदिन को समर्पित था। इस में आप के तीन प्रमुख शिष्यों को प्रस्तुत किया गया—श्री पुष्पराज कोष्टि (सितार) श्री ऋत्विक् सान्याल (गायन)

श्री चन्द्रशेखर नारियेकर (सुरबहार)। इनके अलावा उ० ज़िया फरीदुद्दीन डागर पं० अभयनारायण मलिक ने भी गायन प्रस्तुत किया। समारोह का स्थल भारत भवन था। पखावज संगति श्री श्रीकान्त मिश्र, वाराणसी और श्री मानिक मुण्डे, खैरागढ़ की थी। अन्त में उस्तादजी ने स्वयं रुद्रवीणावादन प्रस्तुत किया।

८. ग्वालियर—दिसम्बर १९८९

१-३ दिसम्बर तक आयोजित वार्षिक तानसेन समारोह में उ० रहीम फ़हीमुद्दीन डागर और श्री उदय भवालकर जो कि उ० ज़ि० मो० डागर के छात्र हैं, उनके कार्यक्रम सम्मिलित थे, दोनों को पखावज संगति श्री मालिक मुण्डे ने प्रदान की। पं० रविशङ्कर ने भी सितार पर ध्रुपद अङ्ग का वादन प्रस्तुत किया, और आप की संगति में थे श्री दुर्गालाल।

९. चण्डीगढ़—दिसम्बर, '८९

वहाँ प्रथम बार ७ से ९ दिसम्बर तक ध्रुपद समारोह का आयोजन हुआ। जो कलाकार सम्मिलित हुए उनमें प्रमुख थे—उ० ज़ि० मो० डागर, उ० ज़ि० फ़रीदुद्दीन डागर, उ० र० फ़० डागर और श्री पुष्पराम कोष्टी।

१०. पटना—दिसम्बर '८९

बिहार संगीत नाटक अकादमी ने १६ से १९ दिसम्बर तक ध्रुपद समारोह का आयोजन किया। सम्मिलित कलाकार थे—बेतिया घराने के युवा गायक सर्वश्री उदयकुमार मल्लिक और पृथ्वीराज कुमार (दोनों दरभंगा से), मोतीहारी के श्री जगतनारायण पाठक, देहली की सुश्री प्रेरणा श्रीमाली (कथक नृत्य), दरभंगा के श्री रघुवीर मल्लिक, बेतिया के श्री अरुण कुमार मिश्र और श्री इन्द्र किशोर मिश्र, टीकमगढ़ की श्रीमती असगरी बाई, पटना के पं० सिधाराम तिवारी, बम्बई के उ० ज़ि० मो० डागर, दरभंगा के पं० रामचतुर मल्लिक और अभयनारायण मल्लिक। पखावज-वादकों में पटना के श्री पन्नालाल उपाध्याय, गया के श्री रामजी उपाध्याय, दरभंगा के श्री रामाशीष पाठक, अयोध्या के श्री स्वामी पागलदास, अम्बे-जोगड़ के श्री शङ्करराव शिन्दे, पटना के श्री अनवर हुसैन और श्री हरीन्द्र दुवे, दरभंगा के श्री मकबूल हुसैन, और सारङ्गी के लिये वाराणसी के पं० हनुमान् मिश्र।

११. दिल्ली—फरवरी १९९०

ध्रुपद सोसायटी ने फ़िक्की प्रेक्षागृह में ७ फरवरी को स्वर्गीय उस्ताद नासिर फ़ैयाज़ुद्दीन डागर की पहली बरसी पर श्रद्धाञ्जलि का आयोजन किया। जिन कलाकारों ने सङ्गीतमय श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, उनके नाम हैं—उ० ना० अमीनुद्दीन डागर, उ० र० फ़हीमुद्दीन, उ० न० ज़हीरुद्दीन, उ० ह० सईदुद्दीन, फ़ै० वसिफ़ुद्दीन, सर्वश्री सुजात खाँ, मधुप मुद्गल, इकबाल अहमद खाँ, उस्मान खाँ, ऋत्विक् सान्याल, शुभा मुद्गल, टी० एन० कृष्णन्, सुलोचना बृहस्पति, सी० आर० व्यास,

उ० अमजद अली खाँ, नयना देवी, सिंह-बन्धु, शफ़ात अहमद खाँ, शीला धर, देवु चौधरी, सुमति मुटाटकर, लक्ष्मण भट्ट तैलङ्ग, सविता देवी, उ० असदली खाँ और विश्वजित् रे चौधरी ।

१२. जयपुर—फरवरी '९०

आठवाँ बहराम खाँ डागर-ध्रुपद-समारोह, जो कि अक्तूबर ८९ में होने वाला था, वह ९-१२ फरवरी '९० में ध्रुपद सोसायटी द्वारा आयोजित हुआ । इसमें सर्वश्री—ओम्प्रकाश चौरसिया (सन्तूर) डा० गोपाल शङ्कर मिश्र, उ० जि० फ़ डागर और उनकी शिष्या सुश्री बेला पन्त, उ० ना० ज़हीरुद्दीन के साथ जुगलबन्दी में फ़ै० वसिफ़ुद्दीन, उ० र० फ़हीमुद्दीन उ० सईदुद्दीन और हिन्दराज दिवेकर (बोन) ।

१३. ढाका—मार्च '१९८९

दिल्ली की ध्रुपद सोसायटी द्वारा प्रवर्तित समारोह का आतिथ्य रहा जर्मन सांस्कृतिक संस्थान । खचाखच भरे हॉल में कई घरानों के प्रतिनिधियों ने प्रस्तुतियाँ कीं । बंगलादेश में कई दशकों बाद प० सियाराम तिवारी की वापसी एक विशिष्ट घटना थी । रहमत अली द्वारा सरोद, असद अली खाँ और जि मो० डागर द्वारा रुद्रवीणा का वादन हुआ । ढाका के एक ध्रुपदगायक चतुर्वेदी ने समारोह का आरम्भ किया ।

१४. लाहौर अप्रैल १९८९

लाहौर में ध्रुपद का पुनरागमन २५ वर्ष बाद हुआ । अपने भतीजे वसिफ़ुद्दीन के साथ उ० ना० ज़० डागर इस वापसी के मुख्य सन्देशवाहक थे । कलाकारों की पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

१५. पश्चिमो योरोप १९८९

उ० जि० मो० डागर ने हॉलैन्ड में सघन प्रशिक्षण दिया और कई महफ़िलें कीं । उ० सईदुद्दीन डागर ने फ्रान्स, बेल्जियम, हॉलैन्ड और जर्मनी का महफ़िलों, कार्यशालाओं और रेडिओ-रिकॉर्डिंग के लिये दौरा किया । उ० र० फ़हीमुद्दीन डागर ने फ्रान्स, ऑस्ट्रिया, जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन और स्विट्ज़रलैन्ड के दौरे में प्रायः २० महफ़िलें कीं, ज्यूरिक् में Compact disc Record की, और फ्रान्स में दो कार्यशालायें चलाईं ।

पेरिस

नवम्बर-दिसम्बर १९८९—पेरिस की ध्रुपद सोसायटी ने डागर-युगल उ० ज़हीरुद्दीन और उनके भतीजे फ़ै० वसिफ़ुद्दीन का एक दौरा आयोजित किया । उन्होंने पेरिस में तीन महफ़िलें कीं, एक दो दिन की कार्यशाला चलाई, जिसे रेडिओ-फ्रान्स-मोज़िके ने रिकॉर्ड किया, और स्विट्ज़रलैन्ड में एक Compact Disc बनवाई ।

अन्य गतिविधियाँ

भोपाल के गुण्डेवा बन्धुओं ने मद्रास में २५ दिसम्बर ८९ को कृष्णा-गानसभा में, और दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी और भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के संयुक्त आयोजन में गाया। श्री श्रीकान्त मिश्र ने पखावज संगति की।

डॉ० ऋत्विक् सान्याल ने कलकत्ता में बिरला अकादमी में २४ मार्च ८९ को, और सङ्गीत रिसर्च अकादमी में २४ जनवरी ९० को श्री अशोक टैगोर की पखावज-संगति के साथ गायन प्रस्तुत किया। आप ने कलकत्ता में १९८९ के वर्ष में पाँच ध्रुपद कार्यशालायें भी चलाई, और १७-१९ सितम्बर ८९ को भिलाई, दुर्ग व रायपुर में महफ़िलें कीं। ध्रुपद और कथक का दूसरा वार्षिक समारोह मान्डु (म० प्र०) में हुआ किन्तु उसकी तारीखें और कलाकारों के नाम प्राप्त नहीं हो सके हैं।

'स्पिक मैके' ने चार युवा कलाकारों—श्री पुष्पराम कोष्ठि, उदय भवालकर और गुण्डेवा बन्धु की सोदाहरण वार्तियें प्रस्तुत करायीं। इनकी युवावस्था के कारण विद्यार्थी समुदाय ध्रुपद के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुआ।

सम्मान, पुरस्कार

वेगम असगरी बाई को जनवरी ९० के गणतन्त्र दिवस पर पद्मश्री की उपाधि दी गई। १९८९ के स्वाति तिरुणाल के नकद पुरस्कार (राशि ३०००) स्वामी पागलदास (पखावज) और पं० लक्ष्मण भट्ट तैलंग (गायन) को दिये गये।

डिस्क

१. ७० २० फ० डागर ने ज्यूरिख में कॉम्पैक्ट डिस्क बनवाई।
२. १९८९ में ही न्यूयॉर्क में अमेरिका की ध्रुपद सोसायटी स्थापित हुई। इन्होंने 'विश्वसंगीत' के सहयोग से डागरबन्धु (जहीर, फ़ैयाज) द्वारा मार्च १९८८ में रिकॉर्ड कराये हुए राग काम्बोजी की एक कॉम्पैक्ट डिस्क प्रकाशित की।
३. कलकत्ता के I. R. C. ने 'शिव के गान' शीर्षक से ऋत्विक् सान्याल का एक कैसेट प्रकाशित किया।

अकबर--जहाँगीर--कालीन संगीतकारों के कुछ संदर्भ

राय आनन्द कृष्ण

तानसेन के सम्बन्ध से अबुल फजल ने अपने ग्रंथ “आईन-ए-अकबरी” में जो सूचनाएँ दी हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। ब्लाखमैन के अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ ४४५ पर राजा रामचंद्र बघेला के सम्बन्ध में जो अंकित है वह भी महत्वपूर्ण है। पर यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस क्षेत्र के राजाओं का नाम व्याघ्र-परक होता था (देखिए समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति)। अतएव यदि बघेला उपाधि व्याघ्र कुल से निकली हो तो आश्चर्य नहीं। इस कुल के विषय में बाबर ने भी अपनी “आत्मकथा” में उल्लेख किया है। किन्तु ज्ञातव्य है कि बाबर ने भारत वर्ष के केवल तीन शासकों का उल्लेख किया है, उनमें से एक यह कुल था।

अबुल फजल लिखते हैं कि रामचंद्र के दरबार में सुप्रसिद्ध गायक तानसेन थे, उनकी कीर्ति अकबर तक पहुँची। अकबर ने राज्य-काल के सातवें वर्ष में अर्थात् १५६३ में तानसेन को बुलवा लिया। राजा रामचंद्र ने विवश होकर तानसेन को उनके “वाद्य-यंत्रों” सहित आगरे भेजा। अबुल फजल के अनुसार बादशाह ने आगरे की राजसभा में पहली बार तानसेन का संगीत सुना तो दो लाख रुपये पारितोषक-स्वरूप दिए। इस सामान्य सूचना से यह प्रतीत होता है कि (१) तानसेन की ख्याति सारे भारत वर्ष पर छा गई थी, (२) अकबर इस संगीत-शैली से पूर्णतः परिचित था और उसका प्रतिपालक भी, तथा (३) अकबरी दरबार में तानसेन का आगमन गौरव की बात थी जिसके लिए इतना प्रयास किया गया।

“आईन-ए-अकबरी” के अंग्रेजी अनुवादक ब्लाखमैन तानसेन के विषय में यह सूचित करते हैं कि एक बार राजा रामचंद्र बघेला ने एक करोड़ टंका का पारितोषक दिया था और इब्राहिम सूर ने एक बार तानसेन को आगरे बुलवाने की सभी चेष्टाएँ कीं, पर वह असफल रहा। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें एक ओर रीवाँ नरेश छोड़ने को तैयार न थे और दूसरी ओर संभवतः तानसेन भी अपनी स्वामिभक्ति के कारण अपने राजा रामचंद्र के पास ही रहना चाहते थे। इस प्रकार अबुल फजल की यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है कि अकबर के दरबार में उन्हें बरबस भेजा गया।

इस स्थान पर अबुल फजल लिखता है कि तानसेन की अनेक रचनाओं पर अकबर का नाम अंकित है; इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—प्रथम तो यह है कि ये रचनाएँ अकबर की प्रशस्ति में लिखी गई थीं, दूसरी यह कि इन पर अकबर के नाम की “छाप” थी। आगरे में बने ध्रुपदों का ठीक-ठीक पता नहीं है, परंतु यद्यपि

राजधानी आगरे चली आई थी, पर बोल-चाल की भाषा में दिल्ली का तख्त ही कहा जाता था। उस समय के एक ध्रुपद की पंक्ति मेरे पिताजी दुहराया करते थे। इसमें था : “दिल्ली सो न तख्त औ न नग्न जैसो आग्रा।” अन्ततः इस प्रसंग में अबुल फजल लिखता है कि आज भी सारे भारतवर्ष में लोग तानसेन के संगीत (ध्रुपदों) को दुहराया करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अत्यन्त प्रामाणिक होने के नाते इनका सर्वत्र प्रचलन रहा होगा। अबुल फजल को इस उक्ति की पृष्ठभूमि इस प्रकार है कि “आईन-ए-अकबरी” की रचना तानसेन की मृत्यु के बहुत बाद हुई।

इसके अतिरिक्त उक्त अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ ६८०-१ में लगातार शाही संगीतकारों के विषय में लिखा है। तदनुसार राजकीय संगीतकार सात वर्गों में बाँट दिये गये थे और सप्ताह में एक-एक दिन, एक-एक वर्ग के लिए निश्चित हो गया था। इसके अन्तर्गत अबुल फजल ने विशिष्ट संगीतज्ञों, संगीतकारों के नाम दिए हैं। यहाँ भी ध्यातव्य है कि इस सूची में प्रथम २२ नाम भारतीय कलावंतों के हैं। यहाँ भी ग्वालियर के अनेक कलावंतों के नाम हैं, जिनमें सर्वप्रथम मियाँ तानसेन का नाम शीर्ष पर है। एतदर्थ, यह संभावना सही मालूम होती है कि तानसेन मूलतः ग्वालियर के थे और वहाँ से रीवाँ गये।

ग्वालियर से अकबरी दरबार में आए अन्य कलावंतों के नाम भी ध्यान देने योग्य हैं। इनमें कुछ तो हिन्दू नाम हैं यथा—बाबा रामदास (संभवतः रामदासी-मल्लार के प्रणेता), नायक जर्जू (यह निश्चित ही नायक चर्जू होना चाहिए, चर्जू की मल्लार प्रसिद्ध है), सूरदास, जो रामदास के पुत्र थे, उनकी सूरदास की मल्लार प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी भारतीय नाम हैं, पर उनके साथ “खाँ” शब्द जुड़ा हुआ है, उदाहरणार्थ—ग्वालियर के सुभान खाँ, श्रीज्ञान खाँ, सुभान खाँ के भाई विचित्र खाँ, ग्वालियर के वीर मण्डल खाँ, सरोद खाँ, मियाँ लाल, तानसेन के पुत्र तान तरंग खाँ और चाँद खाँ आदि ग्वालियर के ही थे। इनमें कुछ नाम उपाधि सूचक भी हो सकते हैं। मैंने अन्यत्र “विचित्र” और “चतुर” शब्द को उपाधि के प्रसंग में विवेचित किया है। प्रसंगवश जहाँगीर के समय में चतुर खाँ कलावंत का नाम प्राप्त होता है, इसी प्रकार बीजापुर के सुल्तान इब्राहिम आदिल शाह के प्रिय कलावंत और जामाता का वास्तविक नाम तो बख्तावर खाँ था, पर लोगों ने उन्हें “विचित्र” की उपाधि दे दी थी। यह जहाँगीर के पास आए थे और जहाँगीर की आत्मकथा में इनका उल्लेख भी है तथा बलिन लाइब्रेरी चित्राधार में इनका एक चित्र भी है।

“आईन-ए-अकबरी” के उक्त संदर्भ में कुछ ऐसे अन्य नाम उपाधि सूचक हो सकते हैं जैसे—श्री ज्ञान खाँ, वीरमण्डल खाँ, सरोद खाँ, प्रवीण खाँ : अबुल फजल ने इन्हें “पुरवीन” लिखा है, अर्थात् यह शब्द द्वयर्थक है क्योंकि इनके पुत्र वीणावादक थे और यह भी वीणावादक रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं; उस समय वीणा को “वीन” कहते थे।

‘आईन-ए-अकबरी’ की उक्त सूची में तानसेन के अतिरिक्त रंग सेन का उल्लेख है। गायकों के नामों में “सेन” शब्द का अन्त बहुत बाद तक भी चलता रहा। मैंने अन्यत्र दिखलाया है और ऐसी संभावना है कि यह प्राचीन काल में गन्धर्वों के साथ प्रयुक्त होता था, उसी परंपरा में चला आया है। अतः यह प्रश्न उठता है कि क्या इनमें से कुछ हिन्दू थे, कुछ मुसलमान थे, या कुछ दोनों के बीच की किसी सांध्य जाति के थे।

लाल खाँ कलावंत का “आईन-ए-अकबरी” में उल्लेख है। यह उल्लेख तत्कालीन कलावंतों के साथ किया गया है। जहाँगीर के संगीत-प्रेम की पुष्टि इससे भी होती है कि उसने अपनी आत्मकथा में उनके देहान्त का उल्लेख किया है। यह उसके तीसरे राज्य वर्ष (१६०८) की घटना है। जहाँगीर लिखता है कि यह कलावंत बाल्यावस्था से ही मेरे पिता के आश्रय में था। इससे स्पष्ट है कि यह परंपरागत संगीतकार था, किसी बड़े घराने में उत्पन्न हुआ था। पुनः जहाँगीर लिखता है कि अकबर ने स्वयं उसे तालीम दिलवायी। मृत्यु के समय इसकी अवस्था ६५-७० वर्ष के बीच की थी। इससे यह आशय निकलता है कि अकबर ने अपने प्रारंभिक राज्य-काल में ही हिन्दुस्तानी संगीतकारों को आश्रय देना प्रारंभ कर दिया था, क्योंकि इस गणना के अनुसार लाल खाँ कलावंत अकबर के समवयस्क ही रहे होंगे।

परंतु इसके बाद जहाँगीर की यह उक्ति बड़े मार्के की है कि अकबर ने स्वयं लाल खाँ कलावंत को स्वर-साधना की शिक्षा दी और हिन्दी भाषा की जो भी जानकारीयाँ थीं, दीं। यदि यह उल्लेख सत्य है तब अकबर स्वयमेव आरम्भ से ही भारतीय संगीत में दीक्षित रहा होगा। इसी प्रकार उसके विषय में ज्ञात है कि वह भारतीय चित्रकला में बाल्यकाल से निपुण था।

जहाँगीर ने एक और पते की बात लिखी है कि लाल कलावंत की एक मुस्लिम रक्षिता ने अफीम खाकर आत्म-हत्या कर ली। यह हिन्दू परम्परा से प्रभावित घटना है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय कलाकारों का जीवन वैभवपूर्ण था क्योंकि जहाँगीर के अनुसार लाल खाँ कलावंत की कई एक रक्षिताएँ थीं और उनमें से एक ने प्राणोत्सर्ग तक किया।

जहाँगीर ने भी तानसेन-सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख किए हैं। उस ने तानसेन के बारे में एक अद्भुत घटना का उल्लेख किया है। परिस्थिति इस प्रकार थी : शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से जिस (जहाँगीर) का जन्म हुआ था, उसको लेकर उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि जिस दिन यह बालक किसी काव्य को दोहरा देगा उस दिन मेरा अंत-काल हो जाएगा, अतएव अकबर ने शासनादेश दे रखा था कि इस बालक के सामने कोई कविता न पढ़े। एक दासी को इसका पता न था—। निदान, शेख का अंतकाल आ गया, तब उन्होंने बादशाह (अकबर) को संदेश भिजवाया कि इस समय में मुझे तानसेन का संगीत सुनवाइए। संगीत को सुनते-

सुनते शेष ने अपने प्राण छोड़े (सारांश)। इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि तानसेन के संगीत का उस काल के लोगों पर क्या प्रभाव था और उन्हें इस संगीत से परम शांति का अनुभव होता था। तानसेन के ध्रुपदों में आध्यात्मिकता का जो पुट है, उसे उसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

अन्यत्र उसने तानसेन के संदर्भ में चर्चा करने के पूर्व भारतीय कवि-समय का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार भौरा रात में कमल में बंद हो जाता है। इसके बाद तानसेन-सम्बन्धी उसके उल्लेख थोड़े होते हुए भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। उसमें तानसेन कलावंत को कवियों में सर्वश्रेष्ठ कहा है। संभव है मूल में “कविराय” शब्द हो जिसका अन्यत्र प्रयोग किया है। “कवियों में श्रेष्ठ तानसेन मेरे पिता के आश्रय में थे और बड़े बेजोड़ थे। वस्तुतः उनके समान किसी भी काल में कोई न हुआ। एक काव्य में उन्होंने एक नायक का मुख-बिम्ब सूर्य के समान अंकित किया है और उसका दृष्टिपात मानो कमल का उन्मीलन और उसमें से भौरे का उड़ जाना है। एक दूसरे काव्य में उन्होंने नायिका के कटाक्ष को कमल के समान दिखलाया है, जिस पर भौरा उतर पड़ा हो”। स्वभावतः ये दोनों तानसेन के ध्रुपद रहे होंगे जो जहाँगीर के प्रिय थे। यदि तानसेन का उक्त “ध्रुपद” जहाँगीर के मन पर अंकित न हो गया होता तो कोई बीस वर्ष बाद भला उसे इसकी सहसा याद कैसे हो आती। ऐसे अनेक रहे होंगे, यह एक उदाहरण मात्र है। जहाँगीर ने उन “ध्रुपदों” का भाव ही दिया है। यही बिम्ब रूप उसके मन पर छा गया होगा। इससे प्रतीत होता है कि जहाँगीर ने मूल ध्रुपद को बार-बार अपने मन में दुहराया होगा, जिससे कहीं का दृश्य देखते ही, वह स्मृति में उभर आया।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मुगल सम्राट् हिन्दी काव्य के प्रेमी थे और उन्हें इसकी समझ भी थी। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में अपने भाई दानियाल के सम्बन्ध में लिखा है कि वह अच्छी हिन्दी कविता करता है और यदि ध्यान से काव्य रचना करे, तो उत्कृष्ट भी हो सकती है। इससे जहाँगीर की परख का पता चलता है। एक उदाहरण और भी है। अपने राज्य के तृतीय वर्ष की एक घटना को वह इस प्रकार अंकित करता है: “राजा सूरज सिंह के साथ हिन्दी के एक कवि आए, जिन्हें राजपूत लोग चारण कहते हैं। उन्होंने मेरे सम्मुख एक प्रशस्ति उपस्थित की: “सूर्य देव को यदि एक पुत्र होता तो कभी रात न होती। आपके पिता को भगवान् के अनुग्रह से ऐसा पुत्र मिला है कि उनकी मृत्यु के बाद शोक मनाने की आवश्यकता नहीं”—(सारांश)। जहाँगीर लिखता है कि मुझे इसके समकक्ष हिन्दी कविता कम ही मिली, अतएव मैंने इसका अपने दरबार के एक विशिष्ट कवि फारसी अनुवाद कराया, उसे भी उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि जहाँगीर ने मूल कविता का आस्वादन किया।

उस काल में आरमोनी लोगों की बस्ती थी जिनमें कुछ समृद्ध थे और उन्हें शाही दरबार में सम्मान भी प्राप्त था। इसमें एक इस्कंदर थे, संभवतः उन्होंने

इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था और अकबर ने उनका अब्दुलहई नामक एक अन्य मुस्लिम आरमीनी कन्या से विवाह करा दिया था। इस विवाह से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें से एक जुलकर नैन था, जो जहाँगीर का प्रिय मनसबदार था। जहाँगीर ने उसके विषय में लिखा है कि वह हिंदी-काव्य का उत्कृष्ट कवि था। यहाँ वह यह भी लिखता है कि उसकी काव्यरचना निर्दोष होती है। इससे स्पष्ट है कि जहाँगीर हिन्दी काव्य के गुण-दोष से परिचित था, संभव है वह सूक्ष्म आलोचक भी रहा हो। उसे जुलकर नैन की रचनाएँ भाती थीं। वह लिखता भी है कि प्रायः मेरे सम्मुख उक्त रचनाएँ उपस्थित की जाती हैं और मैं उन्हें अपनी स्वीकृति देता हूँ।

संयोगवश जुलकर नैन के सम्बन्ध में एक सूचना और प्राप्त है। एक बार जहाँगीर लाहौर से आगरा वापस आ रहा था। इस पर युवक शाहजहाँ ने जुलकर नैन से कहा कि बादशाह कल आ रहे हैं। इस अवसर पर तुम अपनी रचना प्रस्तुत करो। उक्त रचना तो उपलब्ध नहीं है। परंतु पूरी संभावना है कि यह ब्रज भाषा की रचना थी, क्योंकि जुलकर नैन के कुछ ध्रुपद प्राप्त हैं, ये पूर्णतया परंपरागत रूप में मिलते हैं।

इन फुटकर उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि तानसेन, जो कि गायक होने के साथ-साथ वाग्गेयकार भी थे, न केवल गायक के रूप में, बल्कि कवि के रूप में भी प्रख्यात थे। अन्य कई दिशाओं में सोचने का मार्ग भी इन सन्दर्भों से खुलता है। जैसे कि, नामों में हिन्दू-मुस्लिम-मिश्रण, मुगल बादशाहों का हिन्दी काव्य के प्रति प्रेम और उसकी समझ इत्यादि।

Some References Pertaining to Musicians of the Time of Akbar and Jehangir

RAI ANANDA KRISHNA

(Editor's Summary)

Abul Fazal's account of Tansen's induction into Akbar's court shows that—(a) Tansen's fame had travelled far and wide into the country, (b) Akbar was well-acquainted with the Dhrupad form and was its patron and (c) The arrival of Tansen in Akbar's court was hailed as a great event and much effort was involved in achieving it. Abul Fazal refers to the failure of the efforts of Ibrahim Sur in bringing Tansen to Agra. Ramachandra Baghela did not want to part with him and Tansen also must have been deeply attached to his patron.

Many compositions of Tansen bear the name of Akbar either as a patron being eulogised or as 'signature' of authorship. Abul Fazal also says that people recite the Dhrupad song-texts composed by Tansen, throughout the country. It is notable that *Ain-e-Akbari* was composed quite a few years after Tansen's death.

Abul Fazal gives a list of thirty-six musicians of Akbar's court and the first twenty-two among these pertain to Indian artistes and there too Tansen tops the list of musicians hailing from Gwalior. This supports the conjecture that Tansen must have belonged to Gwalior and must have migrated to Rewan from there. The names of other Kalāwants who migrated from Gwalior are mixed i.e., some are pure Hindu names, like Bābā Rāmdās and his son Sūrdas (not the famous devotee) and there are other names to which 'Khan' is suffixed; e. g. Subhan Khan, Sri Gyan Khan, Vichitra Khan, Viramandal Khan, Sarod Khan, Tansen's son Tan Tarang Khan etc. 'Vichitra' could also be a title instead of a proper name, just like 'Chatur'. For example, in Jehangir's time, Chatur Khan appears as the name of a Kalawant. Similarly, the son-in-law and favourite Kalāwant of Sultan Ibrahim Adilshah II was named Bakhtawar Khan, but he was given the title 'Vichitra'. Jehangir refers to him in his autobiography and a portrait of his is deposited in the Berlin Library. This list of *Ain-e-Akbari* includes a name Rangsen, besides Tansen. 'Sen' continued to be used with the names of musicians for a long time. It appears that this had been a component of names of Gandharvas and has continued as a hangover. The above list might have been composed of Hindu and Muslim names as well as names of a *Sāndhya* (neutral) class which could not be given either of the labels.

The name of Lalkhan Kalawant occurs in the above list of Ain-e-Akbari. Jehangir mentions his death in Ain-e-Akbari and says that this Kalāwant was under the patronage of his father from his childhood and that his father (Akbar) had arranged for his musical training. Jehangir goes on to say that Akbar himself taught voice-culture (svara-sādhana) and Hindi language to Lalkhan. If this statement is true, then it could be inferred that Akbar was initiated into Indian music in his early years, just as he was well-versed in Indian painting since his childhood. Jehangir also records a notable fact that a Muslim 'keep' of Lal Kalawant committed suicide by taking opium. This reflects Hindu influence.

Jehangir also records a remarkable incident regarding Tansen. He was born with the blessing of a Sufi saint called Sheikh Salim Chishti and he had made a prophesy that his end would come whenever the child (Jehangir) repeated a poem. In spite of all precautions, the child happened to repeat a poem. The Sheikh's end was imminent and he requested Akbar to arrange Tansen's music. He breathed his last in perfect peace, listening to Tansen's music. This incident reveals the spiritual content of Tansen's music and the high esteem in which it was held by his contemporaries.

Another notable statement of Jehangir about Tansen is that the latter has been called the best among poets, rather than musicians. He has said that in a poem (probably song-text) Tansen has said that the hero's face is like the Sun, his glance is like the opening up or blossoming of the lotus and the flying away of the bee out of it. This metaphor is based on the poetic 'belief' that the bee gets captured in the lotus after sunset and gets released only after sunrise. In another poem Tansen has said that the glance of the heroine is like the lotus on which the bee has secured a position. These poems must have been Dhrupad song-texts that made a lasting impression on Jehangir; he must have immensely liked the imagery so much so that he could recall it almost twenty years later.

The Mughal emperors were lovers of Hindi poetry and they had developed its critical appreciation. Jehangir records an incident of the third year of his reign; a poet arrived along with Suraj Singh, he belonged to the Chāraṇa class. He said—"if the Sun had a son, there would have been no night in this world. By God's grace your father has been blessed with such a son that there is no reason for lamenting his death." Jehangir deeply appreciated this poetic expression and got it translated into Persian.

Julakar Nain was a favourite courtier of Jehangir. He was born of Armenian parents. Jehangir has referred to him as an excellent composer of Hindi poetry. Thus Jehangir could be said to be a connoisseur of Hindi poetry.

म'आरिफुन्नगमात एवं क्रमिक पुस्तक मालिका में संकलित समान ध्रुपदों के पाठ की तुलनात्मक सारणी

राधेश्याम जायसवाल

पं० विष्णु नारायण भातखण्डे द्वारा संकलित और संपादित क्रमिक पुस्तक-मालिका (२ से ६ तक ५ भागों में) और राजा नवाब अली की म'आरिफुन्नगमात (२ और ३ भागों में) कई ध्रुपद समान रूप से मिलते हैं। पाठ की तुलना के लिए ऐसे ध्रुपदों के पदों को आमने-सामने रख कर देखने से सुविधा होगी। इसी दृष्टि से संलग्न सारणी प्रस्तुत की गई है। छोटे-मोटे पाठभेदों के अतिरिक्त कहीं-कहीं यह भी पाया गया है कि एक संकलन में यदि किसी पद में चारों तुक (यानी स्थायी-अन्तरा-संचारी-आभोग) हैं तो दूसरे में दो ही (यानी स्थायी अन्तरा) हैं। कुल उनचास पदों का पाठ संलग्न सारणी में संगृहीत है। जिन पदों में कोई भी पाठ भेद नहीं है, उन्हें यहाँ सम्मिलित नहीं किया गया है। दो पद ऐसे हैं जिनमें बहुत थोड़ा-सा पाठभेद है, उन्हें भी सारणी में अंकित नहीं किया गया है। वह पाठभेद इस प्रकार है—राग विभास, चौताल में निबद्ध “धे नरहर नारायन गोपाल” ध्रुव वाले पद के स्थायी में म'आरिफुन्नगमात में प्राप्त ‘गदाधर’ के स्थान पर क्रमिक पुस्तकमालिका में ‘गिरिधर’ पाठ है और राग सुधराई, झपताल में निबद्ध पद के अन्तरा में म'आरिफुन्नगमात में प्राप्त ‘जोत’ तथा ‘सुहावत’ के स्थान पर क्रमिक पुस्तकमालिका में ‘ज्योति’ एवं ‘कहावत’ पाठ मिलता है।

उभय ग्रंथों के जिन संस्करणों का उपयोग किया गया है, उनका विवरण निम्नांकित है :—

ग्रंथ का नाम	प्रकाशक का नाम	संस्करण अथवा प्रकाशन-वर्ष
१. मारिफुन्नगमात, भाग २	संगीत कार्यालय, हाथरस	१५ मई १९५२
२. ,, भाग ३	,, ,,	दूसरा संस्करण
३. क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग २	,, ,,	अक्टूबर, १९७९
४. ,, ,, भाग ३	,, ,,	दिसम्बर, १९६७
५. ,, ,, भाग ४	,, ,,	अक्टूबर, १९५२
६. ,, ,, भाग ५	,, ,,	अक्टूबर, १९७४
७. ,, ,, भाग ६	,, ,,	संवत् २०११

म' आरिफुल्लगमात एवं क्रमिक-पुस्तक-मालिका के ध्रुपद-पाठान्तर की सूची

म' आरिफुल्लगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रमिक पुस्तक मालिका के ध्रुपद-पाठ

क्रम	ग्रंथ की सं०	खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद	ग्रंथ की सं०	खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
१.	२/४७	अलहैया	चौताल	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिये रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कवि, पान कीजे रीझ रहिये सदा ही सरन माई री ॥	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिए रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कब, पान कीजे रीझ रहिए सदा हि सरन माई री ॥					
२.	२/४७	अलहैया	चौताल	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिये रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कवि, पान कीजे रीझ रहिये सदा ही सरन माई री ॥	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिए रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कब, पान कीजे रीझ रहिए सदा हि सरन माई री ॥					
३.	२/४७	अलहैया	चौताल	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिये रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कवि, पान कीजे रीझ रहिये सदा ही सरन माई री ॥	स्थायी :— आज और काल और दिन प्रति और-और, देखिए रसिक गिरिराज घरन माई री । अन्तरा :— दिन प्रति नई छवि बरने सो कौन कब, पान कीजे रीझ रहिए सदा हि सरन माई री ॥					

म' आरिफुल्लगमात के छपद-पाठ

क्रमिक पृ० मा० के छपद-पाठ

क्रम० ग्रन्थ की सं० खंड/पृष्ठ संख्या	राग	ताल	पद	ग्रन्थ की खंड/पृष्ठ संख्या	राग	पद	पद
२. २/११७	अहीर भैरव	झपताल	<p>स्थायी :—</p> <p>राधिका रमन गिरधरन गोपीनाथ, मदन मोहन कृष्ण नटवर बिहारी ।</p> <p>अन्तरा :—</p> <p>रासलीला रसिक वृज जुवति प्रानपति, सकल दुखहरन गोचरन हारी ॥</p>	५/३४८	अहीर भैरव	झपताल	<p>स्थायी :—</p> <p>राधिका रमन गिरधरन गोपीनाथ, मदन मोहन कृष्ण नटवर बिहारी ।</p> <p>अन्तरा :—</p> <p>रासलीला रसिक ब्रज जुवति प्रानपति, सकल दुखहरन गोगणन चारी ॥</p>
३. २/११८	आनन्द-भैरव	झपताल	<p>स्थायी :—</p> <p>मेरे मन सुमिरन कर इलाही को नाम । जासों सकल तेरे होवत सुफल काम ॥</p> <p>अन्तरा :—</p> <p>मोहम्मद रसूल पंजन पाक चार यार । मुरतजा अली और द्वाजदे ईमाम ॥</p>	५/३३९	आनन्द-भैरव	झपताल	<p>स्थायी :—</p> <p>मेरे मन सुमिरन कर इलाही को नाम । जासों सकल तेरे होवत सुफल काम ॥</p> <p>अन्तरा :—</p> <p>मोहम्मद रसूल पंजन पाक चारो यार । सूतजा ली और द्वाजदे ईमाम ॥</p>
४. २/२४७	काफी	चौताल	<p>स्थायी :—</p> <p>आये री मेरे धाम श्याम कुंवर कृष्ण, उनके चरन नैनन कर परसूं ।</p>	२/३३८	काफी	चौताल	<p>स्थायी :—</p> <p>आए री मेरे धाम श्याम कुंवर कृष्ण, उनके चरन नैनन सों परसों ।</p>

अन्तरा :—

बंसी बजावत कर बंसी लिये,
साजरी ओढ़े पीरो पट धाय ॥

५. २/५५ कुकुब

झपताल

स्थायी :—

तेरे मिलनदा चावनी संयो मैंनू ।

अन्तरा :—

सोहनी सुरत मन पर बसदी,
नँनो दी तपत बुझावे लोरी दे ॥

५/१६८ कुकुब

झपताल

स्थायी :—

तेरे मिलन दा चावे संयो मैंनू,
आवे लोनी दा चावे संयो मैंनू ।

अन्तरा :—

सोनी सोनी सुरत मन पर बस री,
मेरो री तपत बुझावे लोनी दा,
चावे संयो मैंनू ॥

६. २/२३७ खमाजी
कानड़ा

चौताल

स्थायी :—

मैं जब देखी गोपाल लाल मोहनी
सुरत ग्राम,
लाल तन मन-धन नौछावर ले गई ।

अन्तरा :—

सुन्दर सरूप रूप उजियारो भयो,
वाकी तो सुरत चित चतुर ने
लिख लई ॥

संचारी :—

सुघर सोहे मुकट माल, ऐसी तो
विराजे लाल,
रीझ रही ब्रज बाल ।

५/२६९ कौंसी
कानड़ा

चौताल

स्थायी :—

मैं जब देखी री गोपाल मोहनी
सुरत ग्राम,
लाल तन मन धन जोवन नौछावर
को ले गई ।

अन्तरा :—

सुन्दर सरूप उजागर नागर सुरत चतुर,
चितारे लख लई ।
(संचारी-आभाग नहीं है)

अन्तरा :—

बंसी बस तर कर बंसी लिए
साज नटवर,
साजे री ओढ़ पियरो पट धाय
आए री मेरे ॥

म' अरिफुल्लगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
-------------	------------------------------	-----	-----	----

आभोग :—

सूरदास के प्रभु कौन मंत्र पढ़ डारो,
ऐसी तो बजाई धुन, बजाई नित नई ॥

७. ३/६१ गोर सारंग चौताल

स्थायी :—

एसे नैना अरन बरन तेरे री,
रंग रसा पागे पिया संग जाये ।

अन्तरा :—

सेत असेत कवल दल मन रंजन,
निरंग हेलन को लताये ॥

४/१६९ गोड़-सारंग चौताल

स्थायी :—

एसे नैना अरन बरन तेरे रंग रस पागे,
पया संग पागे ।

अन्तरा :—

सेत असेत कवल दल मान रंजन,
निरंजन खेलन का ये तागे ।

८. २/७८ गोड़-सारंग चौताल

स्थायी :—

माधो मुकुंद मधुसूदन मुरारी,
राधापति मन रंजन ।

अन्तरा :—

दीनबन्धु दीनानाथ काटन दुख
दंद फंद सुदामा दलित भंजन ॥

४/१६६ गोड़-सारंग चौताल

स्थायी :—

माधो मुकुंद मधुसूदन मुरारी,
राधापति मन रंजन ।

अन्तरा :—

पतित पावन दीन बन्धु,
काटत दुख हृन्द फन्द,
सुदामा के दारिद्र भंजन ॥

क्रमिक पृ० मा० के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
-------------	------------------------------	-----	-----	----

१. २/१९३ चजू की
मल्हार
- चोताल
- स्थायी :—
हमें बोली बोल लेके परतीत-परतीत ।
अन्तरा :—
सुन हो उधो हमें तो नाहि,
कोन गाँव की रीत ॥
१०. २/२८ छायाण्ट
- चोताल
- स्थायी :—
माननी मान काहे को करत,
अपने पिया संग भा ।
अन्तरा :—
तू जैसी सुघर नारि, सब रस जानत,
ताते ना कर डोंग ॥
११. २/३०२ जीलफ
- झपताल
- स्थायी :—
मेरी मदद करो या शाहू मेरे,
दुख दलित्र दूर करो सुख दो मेरे ।
अन्तरा :—
अलीयो न बीते री बिनती करत हूँ,
सदका हसन का छुवत चरन तेरे ॥
१२. २/४३ जैत
- चोताल
- स्थायी :—
गागरिया छुवन तोहि छुवन तोहि कैसे
देहू ?
अन्तरा :—
बाट घाट पर रोकत टोकत छीकत
पनियाँ न लेहू ।
- ६/३२१ चरजू की
मल्हार
- चोताल
- स्थायी :—
हमें बोली बोल ले का परतीत-परतीत ।
अन्तरा :—
सुन हो उधो हमें नाहीं डोर,
कोने गाँव की रीत ॥
- ४/१३५ छायाण्ट
- चोताल
- स्थायी :—
माननि मान काहे को करत,
अपने पिया के संग ।
अन्तरा :—
तो जैसि सुघर नारि, सब रस जात,
तातें तु ना कर डोंग ।
- ५/४०४ झीलफ
- झपताल
- स्थायी :—
मेरी मदद करो या शाहू मेरे,
दुख दरिद्र दूर करो सुख दो मेरे ।
अन्तरा :—
अलीयो न बीते री बिनती करत हूँ,
सदका हसन का छुवत चरन तेरे ॥
- ५/६३ जैत-कल्याण
- चोताल
- स्थायी :—
गागरिया छुवन तोहे कैसे देऊँ ।
अन्तरा :—
बाट घाट पर रोकत टोकत,
छीकत पनियाँ ना लेहू ॥

म' आरिफुन्नमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम ग्रंथ की सं० खंड/पृष्ठ सं० राग ताल पद

१३. २/१४३ जैतश्री चौताल

स्थायी :—

कान्हूर जनम लियो जनम लियो
औतार हरे ।

अन्तरा :—

जगत पहरवा सोय गये है, टूट गये हैं
तारे तरे ।

संचारी :—

डार छन्न में ले चले वासुदेव सिधनाद
आगे धरे ।

आभोग :—

चरन छवन को कालिन्दी आयी, हो
गयी तर तार रे ॥

१४. २/१२२ जोगिया चौताल

स्थायी :—

अखिल गुनन भण्डार,
रचत सृष्टि सिरजन हार कतार ।

अन्तरा :—

सकल भुवन को आधार,
दास ताप भजन-हार मायापती
जगपती ॥

क्रमिक पुस्तक मालिका के ध्रुपद-पाठ

ग्रंथ की सं० खंड/पृष्ठ सं० राग ताल पद

५/४६१ जैतश्री चौताल

स्थायी :—

कान्हूर जनम भयो जनम भयो औतार
वर ।

अन्तरा :—

जगत पहरवा सोय गये हैं,
टूट गये हैं तारे झर ॥

५/३८२ जोगिया चौताल

स्थायी :—

अखिल गुनन भण्डार,
रचत सृष्टि सिरजनहार करतार ।

अन्तरा :—

सकल गुनन को आधार,
दास ताप भजनहार मायापति
जगत्पति ।

१५. २/८८ क्षिप्रौटी चौताल

५/२६७ क्षिप्रौटी चौताल

स्थायी :—

अंखियाँ जो हतीं अब नैन भये,
कजरा जो दियो मृग छौनन को ।

अन्तरा :—

तब वारी हती अब नारि भई,
पिया सेज के बीच बिछौनन को ॥

संचारी :—

रसखान कहें चतुराई सिखो,
दिन बीत रहे हैं गौनन को ।

आभोग :—

अब खेलो खेल पिया संग,
खेन गयो दिन खेल खिलौनन को ॥

१६. २/२५९ टोड़ी चौताल

२/४७५ तोड़ी चौताल

स्थायी :—

मेरे तो अल्ला नाम को आधार जिन
रचो संसार,

काम क्रोध लोभ महा जंजार ।

अन्तरा :—

जिन रचो चांद सूरज जमी असमान,
निरंजन निरंकार सांची सेवा कियो ना
पाक परवर दिगार ॥

स्थायी :—

अंखियाँ जो हतीं अब नैन भये
कजरा जो दियो मृग छौनन को ।

अन्तरा :—

तब वारि हती अब नारि भई
पिया सेज के बीच बिछौनन को ॥

टिप्पणी :—

इसके पश्चात् निम्नलिखित
वाक्य अंकित है :—

“उपर्युक्त चीज पृष्ठ २६५ पर
त्रिताल में दी गई है, किन्तु कोई-
कोई गायक इसे चौताल में यहाँ दिये
हुए प्रकार से भी गाते हैं ।”

स्थायी :—

मेरे तो अल्ला नाम को आधार,
जिते रचो संसार, काम क्रोध लोभ
महा जंजार ।

अन्तरा :—

जिते रचो अरस कुरस जमीं आसमान,
निरंजन निराकार साँचो क्यों न सेवो
परवर दिगार ॥

म' अरिपुन्रगमान के ध्रुपद-पाठ

क्रमिक पुस्तक मालिका के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
१७.	२/९३	तिलक- कोमोद	चौताल	<p>स्थायी :— हर हर हर करत फिरत, निडर गोपी जन संग । मदमाती जीवन की नार, इठलात कुञ्जन जात ॥</p> <p>अन्तरा :— घर घर घर झगरा करावत, ना माने काहू की बात । श्यामसुन्दर इठलात कुञ्जत जात ॥</p>	३/३२९	तिलक- कामोद	चौताल	<p>स्थायी :— हर हर हर करत फिरत ना डरत गोपियन के साथ, मदमाती जीवन की नार इठलात कुञ्जन में जात ।</p> <p>अन्तरा :— घर घर घर झगरा करवत, ना माने काहु की बात, श्यामसुन्दर बिन मन अकुलात, कैसे इठलात, कुञ्जन में जात ॥</p>
१८.	२/१०७	देस	चौताल	<p>स्थायी :— ऐ सखी सावन आयो, बिरहा अगम मोपे, कल ना परत प्यारे बिन ।</p> <p>अन्तरा :— चहूँ ओर ते बादर उमड़ धुमड़ छायो, छतियां उमगी कान्हू कारे बिन ॥</p>	३/२९३	देश	चौताल	<p>स्थायी :— ऐर सखि सावन आयो, बिरहा अगन मोहे, कल ना परत प्रात प्यारे बिन,</p> <p>अन्तरा :— चहूँ ओर ते बादल उमड़ धुमड़ आवे, छतिया उमगी कान कारे बिन ॥</p>

१९. २/२८१ देसी (एक- झपताल प्रकार)

६/३५३ देसी

झपताल

स्थायी :—

निरंजन कीजे मुक्ति मेरी,
परताप सँ अहमद जू के ।

अन्तरा :—

तू ही दूर करत दुखियन के दुख,
पूजा करे सब जीव जन्तु तेरी ॥

संचारी :—

निरगुन को करत विद्यावान,
निरधन को देत माया घनेरी ।

आभोग :—

दरस महागिर तेरो दास,
जाकी मुक्ति में कर नाहि देरी ॥

२०. २/२४२ घनाश्री चोताल

६/१४८ घनाश्री

चोताल

स्थायी :—

सास सदन मदन कदन दरशन को,
ते पूजा जात देखिये एक बार ।

अन्तरा :—

सहज निकट आय हरिहर हँसि-हँसि
बुझन लागे
कहाँ जात ए री भालि कर पकरत
वाको करत जुहार ॥

स्थायी :—

निरंजन कीजे मल मूक्त मेरे,
परताप सँ अहमद जू के ।

अन्तरा :—

तू हि नूर तू हि भूप,
तेरो हि गुन गाऊँ,
सेवा करे सब जिव जंतु तेरे ।

स्थायी :—

सास सदन मदन कदन दरशन को,
ते पूजा जात देखि एक बार ।

अन्तरा :—

सहज निकट आय हरि हरख-हरख
बुझन लागे,
कहाँ जात ए री भाल कर पकरत
वाको करत जोहार ॥

म' आरिफुन्नगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	गंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
-------------	----------------------------	-----	-----	----

२१. २/११२ नटमल्लहार चौताल
 स्थायी :—
 बनवारि बिन मोकोरी,
 आली लागत रैन भयावन ।
 अन्तरा :—
 जुग समान बीत जात, नैक ना सरात
 जात,
 अवध भइ लागो सावन ॥

२२. ३/४९ पुरिया चौताल
 स्थायी :—
 सीस छत्र सोहे मोतियन को,
 सेरा विराजे अछे निके बनरे के मुख,
 जोत जो फूलन ससि समान ॥
 अन्तरा :—
 निके रतन जराव को कंगना,
 सुंदर रूप की जगमात अवी छब देत,
 सुहायो लाग रे ताकी सुगंध को,
 कौन करे बखान ॥

क्रमिक पु० मा० के ध्रुपद-पाठ

गंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
----------------------------	-----	-----	----

६/३१६ नटमल्लार चौताल
 (एक प्रकार)
 स्थायी :—
 बनवारी बिन मोको आली लागत रेनी
 भयावन ।
 अन्तरा :—
 जुग समान बीती जात नैक ना सरात
 जात,
 अवध भई लागो सावन ॥

४/४८० पुरिया चौताल
 स्थायी :—
 सीस छत्र सोहे मोतियन को सेरा
 विराजे,
 आछे नीके बनरे की मुख जोत जो,
 पूरन शशि समान ।
 अन्तरा :—
 नीके रतन जड़ाव को कंगना सुंदर
 कता कि,
 अति छवि देस चोला गरीयन,
 ताको सुगंध कौन बखान ॥

२३. २/१८२ बरवा

(सन्

१९२४

का

संस्करण)

चौताल

स्थायी :—

आयो सावन सोहावन सो रंग-रंग सोहे,
पी संग झूलत बाल मुसकात आली है ।

अन्तरा :—

जाकी अंग-अंग जोत झलकत

जोवन की,
चितवत चितचोर ते नैन मतवाली है ॥

६/१३९ बरवा

चौताल

स्थायी :—

आयो सावन सोहावन सो रंग-रंग

साहे,

पी संग झूलत बाल मुसकात आली है ।

अन्तरा :—

जाके अंग-अंग जोत झलकत जोवन

नीकी,

चितवत चितचोर ते नैन मतवाली है ॥

२४. २/१७४ बरारी

चौताल

स्थायी :—

बिरहिन बावरी वेगि मुधि लेहो

प्यारे ।

अन्तरा :—

काहू पै कोऊ नैन वान चलावत,
पाती न आई रावरे ॥

६/७६ बरारी

चौताल

स्थायी :—

बिरहिन बावरी वेगि मुधि लेहो

प्यारे ।

अन्तरा :—

काहू के काहु नैन वान चलावत,
पाती न आई रावरे ॥

२५. २/६९ विहाग

चौताल

स्थायी :—

जो लौं हि मारतण्ड चंद्र सोहे असमान

माँहि,

जो लौं जेव सीस भू अचल वनी रहे ।

अन्तरा :—

जो लौं गंगा-जमुना की धार धरा

मंडल में

जो लौं कैलास में कुबेर सो धनी रहे ॥

३/२३९ विहाग

चौताल

स्थायी :—

जो लौं हि मारतंड चंद्र सोहे असमान

माँहि

जो लौं जेव सीस भू अचल वनी रहे ।

अन्तरा :—

जो लौं गंगा जमुना कि धार धरा

मंडल में,

जो लौं कैलास में कुबेर सो धनी रहे ॥

म' आरिफुन्नगमात के ध्रुपद-पाठ				क्रमिक पुस्तक मालिका के ध्रुपद-पाठ					
क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद	क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद

संचारी :—

जो लौं छीरसागर उजागर जहाँ बीच,
जो लौं विष्णु चक्र असुरन पर गनी रहे ।

आभोग :—

सादत के प्रभु रसिक श्री नवाव
बहादुर जू,
तो लौं जग रावरी सुकीरति बनी रहे ॥

संचारी :—

जो लौं छीरसागर उजागर जहाँ बीच,
जो लौं वेष्णु तीव्र चक्र असुरन पर गनी रहे ।

आभोग :—

सादत के प्रभु नवाव रसिक बहादुर,
जो लौं तो लौं जग वावरि सुकीरत यहाँ बनी रहे ॥

२६. २/१८० भीमपलासी चौताल

स्थायी :—

तन नगर हिरदे तखत मन वादशाह,
मत वजीर सेवक याही के ।

अन्तरा :—

जान आहे री श्रवनन जासूस,
दिरग दोऊ हैं अमीर याही के ॥

भीमपलासी चौताल

स्थायी :—

तन नगर हिरदे तखत मन वादशाह
मत वजीर सेवक था हो के ।

अन्तरा :—

जान आहे री श्रवन जासूस,
दिर्ग दोउ है अमीर याही के ॥

३/६०२

(सन्

१९२४

संस्करण)

२७. ३/६२ भीमपलासी चौताल

स्थायी :—

जाके मिर्ग छाला ताके मोतियन
की माला,
जाके नाद डंवरूवाजत मुरली अघर रे ।
अन्तरा :—
डिम डिम डंवरूवाजत जटा जूटा छार्ई,
रुंड मुंड माला लिये भर पीतम बर पूरा॥

३/६०४ भीमपलासी चौताल

स्थायी :—

जाके मगछाला ताके मोतियन
की माला,
जाके नाद डंवरूजाके सिंगी अघर रे ।
अन्तरा :—
डिम डिम डिम डमरूवाजे जटा
जूट गंग छार्ई,
रुंड मुंड माला जाके बार्घबर पट रे ॥
टिप्पणी :— इस बंदिश को भाग ४ के
पृष्ठ सं० ७८० पर राग मुलतानी
(चौताल) में भी अंकित किया गया है ।

२८. २/१११ भैरव

झपताल

स्थायी :—

ज्ञान मदमाते जे नैन निसदिन,
तिनको कबहू न होत खुमारी ।
अन्तरा :—
सत के प्याले में धर्म भर-भर पियो,
रसना स्वाद लेत लागी रहत जियतारी ।
संचारी :—

तनकार माटी मनकार ज्ञानम,
पंचम आत्मा भूतकारी ।
आभोग :—
हरिदास डागुर पी को सुमिरन करत,
टपकत बूंद होत अझारी ॥

२/२०३ भैरव

झपताल

स्थायी :—

ज्ञान मदमाते जे नर निस दीन,
तिनको कबहू न होत खुमारि ।
अन्तरा :—
सत के प्याला भर-भर पीवत,
रसना स्वाद लेते ध्यान घर जाको
लागि रहत जियतारि ॥

संचारी :—

मन कर रसायन तन करो माटी,
पाँचो आत्म अग्निनी जारी ।
आभोग :—
हरिदास डागुर के प्रभू ध्यान,
धरत ही मानो स्वाति बूंद डारि ॥

म' आरिफुन्नगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम ग्रंथ की सं० खंड/पृष्ठ सं० राग ताल पद

२९. २/२९३ भैरवी झपताल

स्थायी :—

जो तू रचो समान दया सों

नाना प्रकार,

तोहि ना विसाहँ सदा हरी-हरी

गाय-गाय ।

अन्तरा :—

सुख दुख में सहाय अन्तर ना कछु उपाय,
हित चित मत लाय-लाय ध्यान

अन्तर धाय-धाय ॥

क्रमिक पुस्तक मालिका के ध्रुपद-पाठ

ग्रंथ की सं० खंड/पृष्ठ सं० राग ताल पद

२/४१७ भैरवी चौताल

स्थायी :—

जो तू रचो समान दया सों

नाना प्रकार,

तोहि ना विसारो सदा हर हर

गुन गाय-गाय ।

अन्तरा :—

दुख सुख जी सहाय अंतर ना

कछ उपाय,

ओक्त जोक्त संपूरन ध्यानांतर

लाय-लाय ॥

संचारी :—

जाकी माया निरंकार लिखि न

जात अप्रपार,

सुर नर मुनि कर विचार जाको

शिव ध्याय-ध्याय ।

आभोग :—

प्रेमदस सिरिनिवास पूरन घट

प्रकास,

जल थल प्रभु वन विलास रहे प्रभु

छाय-छाय ॥

३०. २/२०२ मदमाद झपताल
सारंग

स्थायी :—
आज अंजन दियो राधिका नैनन को,
आज अंजन दियो राधिका नैनन को ।
अन्तरा :—
मीन मंग हीन गुन रहत खंजन रे,
अधिक चंचल सरस श्याम मुख देन को ॥

६/१६७ मदमाद झपताल
सारंग

स्थायी :—
आज अंजन दियो राधिका नैनन को ।
अन्तरा :—
मीन मंग हीन कुल लजत
खंजन नरस,
अधिक चंचल सुरस श्याम
मुख नैन को ॥

३१. २/१६६ मालीगोरी त्रिताल

स्थायी :—
राजा श्री रामचन्द्र कृपालु ।
अन्तरा :—
पतित पावन कटत दुख हृदय,
सेवक को दीजे आनन्द ॥

६/६५ मालीगोरी चौताल

स्थायी :—
राजा श्रीराम रामचन्द्र ।
अन्तरा :—
पतित पावन दीनबधु,
सेवक की दीजे आनन्द ॥

३२. २/१९४ मीराबाई चौताल

स्थायी :—
तुम धन ते धन गरजे,
गरज-गरज कहीं अन्त जाय वरसे हो ।
अन्तरा :—
कहू धाम कहूँ छाँह बनावत,
कहूँ लागत मरसे हो ॥

६/३२० मीराबाई चौताल
की मल्लार

स्थायी :—
तुम धन ते धन गरजे,
गरज-गरज कहा अंत जाय बरजे हो ।
अन्तरा :—
कहूँ धाम कहूँ छाँह बतावत,
कहूँ लागत आसरे हो ॥

संचारी :—
झंठी बातें करो न पती जी,
ओरन के पग परसे हो ।
आभोग :—
लछीराम तुम हो बहुनायक,
सब बातन परसे हो ॥

म'आरिफुल्लगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रमिक पृ० मा० के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद	ग्रंथ की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
३३.	२/२९८	मेघ (एक प्रकार)	चौताल	<p>स्थायी :— तू लागी मान करन को तेरे तो, आये है लाल लीजिये मनाए ।</p> <p>अन्तरा :— चढ़ देखो चित्रसारी, उमंगी घटा कारी, वे देखो रात लागी री बादर झरी ॥</p>	६/२८९	मेघ मल्लार	चौताल	<p>स्थायी :— तू लागी मान करन को तेरे तो, आये है लाल लीजिये मनाये ।</p> <p>अन्तरा :— चढ़ देखो चित्रसारी, उमंगी घटा कारी, वे देखो रात लागी री बादर हरे ॥</p>
३४.	२/१९९	मेघ (दूसरा प्रकार)	झपताल	<p>स्थायी :— मगन रहो रे दलित्र भूखन अपार, जे नर इंद्र के मन में डोरे ।</p> <p>अन्तरा :— का भयो जो भयो छत्रपति नरेश, राम राजा को परसाद पाये विनु, बिपति सागर कौन टारे टरे ॥</p>	२/२८१	मेघ मल्लार	झपताल	<p>स्थायी :— मगन रहो रे दालिद्र मये, कौन हरे वर इंद्र के मन में तजो लो घरे ।</p> <p>अन्तरा :— का भयो जो भयो छत्रपति नरेश, राम राजा को परताप पाइयत है, बिपत सागर कौन तारो तरे ॥</p>
३५.	२/१२	यमन	चौताल	<p>स्थायी :— तान ताल सों ही गाइये, अनगिनत तान गाइये सुनाइये, वेगि परसत है शृंग राग ।</p>	२/६४	यमन कल्याण	चौताल	<p>स्थायी :— तान ताल सों ही गाइये, अनगिनत तान गाइये सुनाइए बेगि, परसत है मुघ राग ।</p>

अन्तरा :—

शुध अति ही अलापत, मुद्रा में गावे
तान,
प्रमान को रिझावे, मानो गुनियन के
होत कंठ ।

अन्तरा :—

सुन अति ही अलापत मुद्रा में गावे
तान,
प्रमान को रिझावे मानो गुनियन के
होत कंठ ॥

७

३६. २/१२४ रामकली चौताल
(एक प्रकार)

४/३३५ रामकली चौताल

स्थायी :—

कन्हैया आज वन बाँसुरी बजाई,
ते सूधी-सूधी-सूधी तान ।

स्थायी :—

कन्हैया आज वन बाँसुरी बजाई,
सूधी-सूधी-सूधी तान ।

अन्तरा :—

सुनत ही धुन मग मग भूले,
और सब बावरी हो सुध वुध हू
बिसराई ॥

अन्तरा :—

सुनत हि धुन मग जो भूल रही मग,
भई बावरी तब सूध वूध हू बिसरान ॥

३७. २/५७ लच्छा साख चौताल

५/१४७ लच्छा-साख चौताल

स्थायी :—

अजहु समझ रे मन मूरख,
साँझ भोर करत जन्म जात तेरो ।

स्थायी :—

अजहु समझ रे मन मूरख,
साँझ भोर करत जन्म जात तेरो ।

अन्तरा :—

भव वारिधि अगभीर दुस्तर तरबे को,
राम मुखधाम चेत तू अवही सवेरो ॥

अन्तरा :—

भव वारिधि अति-गंभीर दुस्तर
तरबे को,
राम मुखधाम चेत तू अबहि सवेरो ॥

म' आरिफुल्लगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम०	ग्रन्थ की सं०	राग	ताल	पद
				खंड/पृष्ठ संख्या

३८. २/५८ लच्छा झपताल
स्थायी :—
प्रथम ताल सुर धाम सो ही गुनी,
जो सुध मुद्र बानी सुध गावे ।

अन्तरा :—
दुरत मध विलम्बित कर लै दिखावे,
बाईस सुरती एकीस मूर्छन ताको भेद पावे ॥

३९. ३/३९ ललित गौरी चौताल

स्थायी :—
लाज रखो मेरी साहेब दोउ जग के,
कादिर करीम कुदरत तेरी ।

अन्तरा :—
धन जग तारन जगत निस्तार,
हम गुनागारन को दुख हरन,
कष्ट परी मोपे भारी ॥

४०. २/२०५ वृन्दावनी सारंग चौताल

स्थायी :—
रात समै रस केल के सुंदर,
भोर भई उठ मंजन घाई री ।

क्रमिक गु० मा० के ध्रुपद-पाठ

ग्रन्थ की संख्या	राग	ताल	पद
			खंड/पृष्ठ संख्या

१/१४९ लच्छा झपा
स्थायी :—
प्रथम तार सुर साधे सो ही गुनी,
जो सुध मुद्रा बानी सुध गावे ।

अन्तरा :—
द्रुत मध विलम्बित कर लय दिखावे,
सप्त सुर तीन ग्राम एकईस मुरछता,
बाईस सुरती की साधन करावे ॥

५/४२९ गौरी (पूर्वो) आदिताल
मेल जन्य प्रकार)

स्थायी :—
लाज रखो मेरी साहेब दोऊ जग में,
री कादर करीम कुदरत तेरी ।

अन्तरा :—
धन जग तारन जगत निस्तारन,
हम गुनैगारन को दुख हारन,
कष्ट परी तुम्हें टेरी ॥

३/५५९ बिदावनी सारंग चौताल

स्थायी :—
रात समै रस खेल के सुंदर,
भोरे ई उठ मंजन घाई री ।

अन्तरा :—

नीर के छीर में देह डुबी,
जमुना जल में जैसे चन्द्र की छाई री ।

संचारी :—

ते डुबकी जल से उभरी,
उलझों अलकें मुख ऊपर आई री ।

आभोग :—

दोउ कर केस सँवार लिये,
निकसो ससि फोर सुमेर की नाई री ॥

४९. २/२०७] वृन्दावनी चोताल

सारंग

स्थायी :—

धन-धन वृन्दावन धन-धन गोकुल,
जमुना के तट पर पीपर छाई री ।

अन्तरा :—

धन गोपी ग्वाल बाल धन वे गोपाल
लाल,

धन मुरली श्याम बजाई री ॥

३/५५३ बिदावनी चोताल

सारंग

स्थायी :—

धन-धन बिदावन धन-धन गोकुल,
जमुना के तट पर पीपर छाई री ॥

अन्तरा :—

धन गोपी ग्वाल बाल धन बाहा—
गंद माल,

धन मुरली यह श्याम बजाई री ॥

४२. २/२३९ शहाना झपताल

६/२३८ शहाना झपताल

स्थायी :—

अवगुन हरी सकल हूँ नाथ मेरे,
अपनो समझ माफ कीजे घनेरे ।

अन्तरा :—

तुम बिन कवन काटे भव फन्द मेरे,
बिनती करत हररंग गाय गुन तेरे,
अपनो समझ माफ कीजे घनेरे ॥

अन्तरा :—

नीर के छीर में देह डुबी जमुना जल में
जैसे चन्द्र की छाई री ॥

स्थायी :

अवगुन भयों सकल हूँ ना मेरे,
अपनो समझ माफ कीजे घनेरे,

अन्तरा :—

तुम बिन कवन हारे भव फंद मेरे,
बिनती करत हररंग गाय गुन तेरे,
अपनो स ॥

म 'आरिफुन्नगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रमिक पु० मा० के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	गंध की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद	गंध की खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
४३.	२/५०	शुक्ल-बिलावल	चोताल	<p>स्थायी :— राजाराम निरंजन हिन्दूपति सुलतान के, करता सकल श्रेष्ठ भरन-पोषन ।</p> <p>अन्तरा :— अति प्रवीन वीर वाम नन्दन जग वन्दन, दरिद्र हरन कोटि क्षाशि किरन, यों लागत मानो महाज्ञान, गुन निधान हर दुखन ॥</p>	५/१६१	शुक्ल-बिलावल	चोताल	<p>स्थायी :— राजाराम निरंजन हिन्दूपति सुलता के, करतार सकल सृष्टि भरन-पोषन ये ।</p> <p>अन्तरा :— अति प्रवीन वीर भान नंदन अति जगबंदन, दारिद्र हरन शुभ करन महाज्ञानी, गुणनिधान हर दुखन ये ॥</p>
४४.	२/५१	शुक्ल-बिलावल	झपताल	<p>स्थायी :— कल ना परत मोको निसदिन निरदई, विरहा अगम मोपे, विरहा अगम मोपे, तन मन जरी दई ।</p> <p>अन्तरा :— अतर सिंगार अधिक सब तज दियो, खोलत हूँ भाग तन की जरी दई ॥</p>	५/१५४	शुक्ल-बिलावल	झपताल	<p>स्थायी :— कल ना परत मोहे निस दीन री दई, विरहा अगिन मोरे तन में जरी दई ।</p> <p>अन्तरा :— सगुन पिया विन सिंगार आभरं, तज दीयो हेरत हूँ मग तकती खड़ी दई ॥</p>

४५. २/४

शुद्ध कल्याण चौताल

४/२२ शुद्ध कल्याण चौताल

स्थायी :—

हादी अल्ला साहेब साईं सत्तार,
रब करीम रहीम अलीम हकीम ।

अन्तरा :—

पाक बेनयाज पाक लतीफ पाक जात
पर्दा पोश,

दाना बीना हू अल्ला हू गुप्त प्रकट हू,
अल्ला हू अन्त हू हलीम ॥

४६. २/२२२ सूहा

चौताल

६/२१० सूहा

चौताल

स्थायी :—

रथ की गरद धूल असमान छायो है,
दौर-दौर देखन को यदुनाथ आयो है ।

अन्तरा :—

पाती के भंजन को छिन हूँ ना लगी
बार,

द्वारिका को छाँड़ि प्रभु कुंजन को
धायो है ॥

संचारी :—

अंग-अंग फूली सबी द्वारे आन ठाड़ि
भई,

मुरली की धुन सुन अधिक सुख
पायो है ।

आभोग :—

कहत कुसलदास जोग री मोरे भाग,
आप हो बनवारी मोरे द्वार आयो है ॥

हादी अल्ला साहेब साईं सत्तार
रब करीम रहीम अलीम हकीम ।

अन्तरा :—

पाक बेनयाज पाक लतीफ पाक जात
पर्दा पोश दाना बीना हादीया हू

अल्ला हू गुप्त प्रकट हू

अल्ला हू अंत हू हलीम ॥

स्थायी :—

रथ की गरद धूल असमान छायो है,
दौर-दौर देखन को जदुनाथ आयो है ।

अन्तरा :—

पाती के भंजन को छिन हूँ ना लगी
बार,

द्वारिका को छाँड़ि प्रभु कुंजन को
धायो है ॥

म' वारिफुल्लगमात के ध्रुपद-पाठ

क्रम सं०	ग्रन्थ की सं०	राग	ताल	पद
----------	---------------	-----	-----	----

४७. २/१०९ सोरठ झपताल
 स्थायी :—
 तेरो ही ध्यान घर जान करतार,
 तू है जोत जगत में भानु उदय भयो ।

अन्तरा :—
 तू हि है पवन पानी बानी शुद्ध
 तू दानी दातार तू रंकन को मान
 दयो ॥

५/३२० सोरठ झपताल
 स्थायी :—
 तेरो हि ध्यान घरत जान करतार
 तू हि,
 तू हि जोत जगत में भानू दये भयो ।
 अन्तरा :—
 तू हि पवन पानि बानि कर सुध
 तू हि,
 दानि दातार तू हि रंगन को मान
 दियो ॥

४८. २/१७१ सोहनी सूल
 स्थायी :—
 प्रथम आदि शिवशक्ति नाद परमेश्वर,
 नारद तुम्बरू सरस्वती भज रे ।
 अन्तरा :—
 अनहत आदि नाद गुन सागर सरूप,
 अक्षर सुध बुध मन गुनी जन रे ॥
 संचारी :—
 आदि घरनी शेष आदि सूरज चन्द्र
 आदि पवन पानी अनुमन रे ।

३/४३५ सोहनी सूलताल
 स्थायी :—
 प्रथम आदि शिवशक्ती नाद परमेश्वर,
 नारद तुम्बरू सरस्वती भज रे ।
 अन्तरा :—
 अनहत आद नाद गुन सागर सरूप,
 ब्रह्मा विष्णु महेश लछुमन रे ॥

क्रमिक पु० मा० के ध्रुपद-पाठ

ग्रन्थ की सं०	खंड/पृष्ठ सं०	राग	ताल	पद
---------------	---------------	-----	-----	----

आश्रयः—

आदि वैजू कवि गुन प्रसाद

तीन लोकन के आवत गुनियन रे ॥

४९. २/१५३ तिरवन

झपताल

स्थायी :—

कालिंदी सरस्वती अरन बरन,

उजले बदन तू ही गंगा त्रिवेनी ।

अंतरा :—

बेनी प्रकास कटत दुख दुन्द;

खंजन मीन लिये संग त्रिवेनी ॥

५/४३३ त्रिवेणी

झपताल

स्थायी :—

कालिंदी सरस्वती अरन बरन देवि,

उजले बरन तू हि गंगा त्रिवेनि ।

अंतरा :—

बेनी प्रकासे कटत दुख दुंद;

खंजन मीन लिये संग त्रिवेनि ॥

A Collative Table of the Reading of Common Dhrupad Texts Compiled in M'arifunnaghamat and Kramik Pustak Malika

RADHESHYAM JAISWAL

(Editor's Summary)

Many Dhrupad compositions are common in the compilation by V. N. Bhatkhande in his Kramik Pustak Malika (parts II—VI) and Raja Nawab Ali in M'arifunnaghamat. Forty-nine song-texts out of these contain major readings-variants; these texts have been presented in the form of a chart for the sake of convenience of collation. The variation of reading is sometimes found in the form of a song-text having the usual four sections in one compilation and only two in the other.

तमिळ् “दिव्यप्रबन्धम्” का संगीतपरक

अध्ययन : एक आरम्भ

प्रमलता शर्मा

दिव्यप्रबन्ध के हिन्दी संस्करण की समीक्षा

आळ्वारों की वाणी का सङ्कलित रूप ‘दिव्यप्रबन्धम्’—अर्थात् ‘भगवत्-परक काव्य’ के नाम से परिचित है। गोदा-देवी या आण्डाल के अलावा ये आळ्वार सन्त बारह हैं। नाथमुनि जो कि सन् ८२५ ई० में उत्पन्न हुए थे, वे प्रकाण्ड विद्वान्, परम भक्त और गायक थे। दिव्य प्रबन्ध का सङ्कलन उन्होंने ही किया था, अतः यह स्पष्ट है कि द्वादश आळ्वार उनके समय से काफ़ी पूर्व हो चुके थे। इस समग्र साहित्य का देवनागरी में मूल तमिळ् और हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादन कर के विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, हिन्दी-भवन के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० रामसिंह तोमर ने आठ खण्डों में प्रकाशन कराया है। यह ग्रन्थमाला हलवासिया—शोध ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित है। आठ खण्डों के प्रकाशन वर्ष और मूल्य इस प्रकार हैं—

खण्ड १	१९८० सजिल्द २५ रु०	खण्ड ५	१९८० ५० रु०
„ २	१९८२ सजिल्द ३५/-	„ ६	१९८८ ५०/-
„ ३	१९८३ „ ४०/-	„ ७	१९८९ ४०/-
„ ४	१९८४ „ ४०/-	„ ८	१९८९ ४०/-

हिन्दी जगत् के लिये यह ग्रन्थमाला अमूल्य वरदान है। हिन्दी अनुवादक पं० श्रीनिवास राघवन् ने बड़ी निष्ठा से अपना कार्य किया है। अनुवाद स्पष्ट और साफ़ सुथरा है, उसमें मूल काव्य के क्रम को अविकल रखने का असाध्य जैसा काम बड़ी कुशलता से सम्पन्न हुआ है। अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक पूरे हिन्दी जगत् के साधुवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थमाला का मूल्य भी सामान्य पाठकों की पहुँच के भीतर है।

साहित्य और सङ्गीत में ‘प्रबन्ध’

प्र + बन्ध = प्रकृष्ट बन्ध अर्थात् भली प्रकार या कस कर बाँधा हुआ या विशिष्ट प्रकार का बन्ध। साहित्य में प्रबन्ध से भिन्न है मुक्तक, जिसमें एक-एक पद्य अपने आप में पूर्ण होता है। प्रबन्ध में एकाधिक पद्यों या गद्यखण्डों का परस्पर सम्बन्ध रहता है, सब के बीच एकसूत्रता रहती है। सङ्गीत में प्रबन्ध संज्ञा सब से पहले मतङ्ग के बृहद्-देशी में मिलती है। स्वर, ताल और पद का प्रकृष्ट बन्ध प्रबन्ध है। यह प्रबन्ध दो प्रकार से प्रस्फुटित हुआ है। सोमेश्वर के मानसोल्लास (ई० १२ वीं सदी) में ऐसे प्रबन्धों के उदाहरण हैं जिन में से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण हैं। दूसरी

और जयदेव का गीतगोविन्द या उसके आदर्श पर रचे गये अन्य गेय काव्य हैं, जिनमें एकाधिक 'प्रबन्ध' काफ़ी हृद तक अपने आप में पूर्ण होते हुए भी पूरी रचना के अङ्गभूत रहते हुए एकसूत्रता से बँधे हैं। संस्कृत में रचित इन प्रबन्धों के ही एक भेद 'सालगसूड' के उपभेद 'ध्रुव' से ध्रुपद का विकास हुआ है, और उसकी भाषा मध्यदेशीय या ब्रजभाषा रही है, इस बात की ध्रुपद वार्षिकी के पिछले अङ्कों में चर्चा हो चुकी है। प्रस्तुत लेख में विचारणीय विषय है—तमिल की जिन रचनाओं का 'दिव्यप्रबन्धम्' नाम से सङ्कलन हुआ है, उनमें 'प्रबन्ध' के वे तत्त्व—जिनका परिचय हमें सङ्गीतशास्त्र और संस्कृत तथा ब्रजभाषा में प्राप्त पदों के नमूनों से मिलता है—उपस्थित हैं या नहीं। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व दिव्यप्रबन्धम् की योजना और सङ्कलनपद्धति को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है।

दिव्यप्रबन्धम् का सङ्कलन और संगीतमय रूप

उक्त सङ्कलन की कथा बड़ी विलक्षण है। एक बार नाथमुनि कुम्भकोणम् तीर्थयात्रा के लिये गये। वहाँ उन्होंने कुछ चारणों को एक तिरुवायमोळि-दशक गाते हुए सुना। ये लोग तमिळ प्रदेश के पश्चिमी भाग से आये थे, जिस का नाम है मेलनाडु। इस प्रकार की रचना उन्होंने पहली बार सुनी थी। इस दशक के अन्त में कःश्रुति थी—“शठकोपन् की रचित साहस्री में से यह दशक है।” उन्होंने गायकों से पूछा कि इस साहस्री के अन्य पद्य कहाँ मिलेंगे? किन्तु उन लोगों ने कहा कि वे तो इसी एक दशक को जानते थे। नाथमुनि की जिज्ञासा बहुत तीव्र हो गई, और वे शठकोपन् की जन्मभूमि आळ्वारतिरुनगरी गये, वहाँ उन्हें 'मधुर' कवि के वंशधर एक भक्त मिले। मधुर कवि ने अपने गुरु (शठकोपन्) की स्मृति में उस इमली के पेड़ के नीचे एक पूजास्थल बनाया था, जहाँ वे रहा करते थे, और उसमें उनका एक विग्रह स्थापित किया था, जो कि उनके परलोक-गमन के पश्चात् प्रार्थना के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त हुआ था। उस भक्त ने नाथमुनि को मधुर कवि द्वारा अपने गुरु (शठकोपन्) की स्तुति में रचित 'कन्ननन् चिरुत्तम्पु' गाना सिखा दिया। कहा जाता है कि जिस खोई हुई वाणी की खोज में नाथमुनि आये थे, उसके पुनरुद्धार के उद्देश्य से उन्होंने उस समाधि-मन्दिर के समक्ष बारह हजार बार उस गीत को गाया। तब वह विग्रह सजीव हो उठा, और इस प्रकार शताब्दियों का काल-व्यवधान मिट गया। इसके बाद नाथमुनि श्रीरङ्गम् गये और वहाँ यह जानकर उन्हें परम हर्ष हुआ कि भूतकाल में उस मन्दिर में दस रात्रियों का एक उत्सव होता था जिसमें तिरुवायमोळि को नृत्यनाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।

नाथमुनि श्रीरङ्गम् में ही बस गये, और इस उत्सव को पुनर्जीवित करने में लग गये। उन्होंने इस साहित्य को सङ्गीतबद्ध करने का काम अपने दो भतीजों की सहायता से आरम्भ किया, जिनके नाम थे 'मेलैय्या कट्टालवार' और 'केलैया कट्टालवार'। श्रीरङ्गम् के मन्दिर में जिन्होंने उक्त नृत्यनाट्यपरक उत्सव को प्रवर्तित किया था उन 'तिरुमङ्गै मन्नन्' का कार्यकाल नाथमुनि से प्रायः डेढ़ या दो शताब्दी

पूर्व था। आळवार-वाणी का साहित्य तो उन्हें नम्माळ्वार शठकोपन् से साक्षात् प्राप्त हो गया था, और संभवतः उसके ताड़पत्र-पाण्डुलेख भी श्रीरङ्गम् मन्दिर में मिल गये होंगे, किन्तु उस साहित्य में स्वर-ताल का प्राण फूंकना महान् कार्य था, जिसे नाथमुनि ने पूरा किया। सङ्गीत के विद्यार्थी के लिये इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि किसी भी परम्परा-प्राप्त साहित्य को स्वर-लयबद्ध करने का काम जो भी कोई करता है, वह अपने देशकाल के प्रभाव के बाहर नहीं जा सकता। नाथमुनि ने जो स्वरताल-योजना की होगी—वह भी आज प्रायः लुप्त हो चुकी है। कहा जाता है कि नाथमुनि ने अपने भतीजों के अलावा देवदासियों को भी अपनी कला सिखाई थी।

आज प्रो० वी० वी० षडगोपन् के शिष्य श्री श्रीराम भारती ने मेलकोटे के नारायणमन्दिर के 'अरैय्यार' (व्याख्याता या गुरु) के सत्सङ्ग में रहकर उक्त सङ्गीत का बहुत कुछ पुनरुद्धार किया है। स्वाभाविक है कि यह कार्य श्री श्रीरामभारती के अपने देशकाल से प्रभावित है। प्रो० वी० वी० षडगोपन् ने भी इस साहित्य के कुछ अंश को संगीतबद्ध किया था।

नाथमुनि के समय तक 'बृहदेशी' ग्रन्थ प्रतिष्ठित हो चुका होगा, और उसकी राग-ताल-प्रबन्ध-सम्बन्धी स्थापनायें सब की जानकारी में आ चुकी होंगी। नाथमुनि बृहदेशी से प्रभावित थे या नहीं—यह कहना भले ही सम्भव न हो, पर यह तो सत्य है कि विन्ध्य के दक्षिण में प्रचलित सभी गीत-विधाओं का उनकी स्वरतालयोजना में अवश्य समावेश हुआ होगा। नाथमुनि के पूर्वज संभवतः उत्तर भारत में यमुना के तटवर्ती प्रदेश से दक्षिण में गये थे—ऐसा कहा जाता है। अतः उत्तर के सङ्गीत के भी कोई संस्कार उनमें रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। कालक्रम से इस संगीत-धारा में मार्ग और देशी के विद्वानों या साधकों का सङ्गीत घुलता-मिलता रहा होगा।

आज अरैय्यार-परम्परा में गायन की जो पद्धति बची है उसका जो शास्त्रीय विश्लेषण श्री श्रीराम भारती ने प्रस्तुत किया है उसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है।

प्रथम प्रबन्ध तिरुप्पल्लाण्डु (विजयी रहो) है। इसके प्रणेता पेरियाळ्वार (बड़े आळ्वार) तिरुमोळि हैं, जिन्हें आळ्वारों में प्रथम स्थान दिया जाता है अर्थात् सबसे प्राचीन माना जाता है। उनका संस्कृत नाम विष्णुचित्त है। 'पल्लाण्डु' इस प्रबन्ध में 'ध्रुव' का प्रथम पद है। यथा—

पल्लाण्डु पल्लाण्डु, पल्लायिरत्ताण्डु पल्कोडि नूरायिरम्, मल्लाण्ड तिण्डोल् मणिवण्णा ! उन् शेवडि शेव्वि तिरुक्काप्पु ।

(हिन्दी) बहु वर्ष (विजयी रहो), बहु वर्ष (विजयी रहो), बहु सहस्र वर्ष (विजयी रहो)। बहु कोटि शत सहस्र (वर्ष विजयी रहो)। मल्ल को परास्त करने में (समर्थ) प्रबल भुजा वाले मणिवर्ण ! तुम्हारे अरुण चरणों का सोन्दर्य सुरक्षित रहे।

‘पल्लाण्डु’ का अर्थ है ‘बहु वर्ष’। यहाँ यह शब्द ‘बहु वर्ष तक जीतते और जीते रहो’ इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरै में राजसभा में एक शास्त्रार्थ हुआ कि कोन पर-देव है। जब पेरियाळ्वार (संत विष्णुचित्त) ने यह स्थापित किया कि श्रीमन्नारायण ही पर-देव है, तब पाण्ड्य—नृपति ने उन्हें हाथी पर बिठा कर एक जुलूस निकाला। तब लक्ष्मीदेवी के साथ भगवान् विष्णु गरुडारूढ़ होकर आकाश में आविर्भूत हुए। उन्हें देख कर श्रीविष्णुचित्त ‘पल्लाण्डु’ कह कर उनका मंगलाशासन करने लगे, जिससे उन पर संसारियों की नज़र न लगे और उन्हें सब तरह के कल्याण हों।

(हिन्दी संस्करण, प्रथम भाग, पृ० ५ से उद्धृत)

इसे गाते समय ‘प्रबन्ध’ के छहों अङ्गों—पद-तेन, पाट-बिरुद और स्वर-ताल तथा तीन धातुओं उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग (केवल मेलापक छूटता है) का उपयोग होता है। यथा—

स्वर यानी **सरगम**—जो स्वर सरगम में गाए जाते हैं, वे हैं—स, प, म और ग, जो राग गम्भीर नाटै के हैं और आरम्भ में सदैव गाए जाते हैं। यह राग तमिळ मल्लारी का समतुल्य है, जिसे देव की शोभायात्रा के आरम्भ में नागस्वरम् पर बजाया जाता है।

बिरुद—विष्णु के सभी स्तुतिपरक विशेषण बिरुद ही हैं। उनके बल, वीर्य, शक्ति लक्ष्मी, शङ्ख-चक्रादि चिह्नों का वर्णन किया गया है।

पद—भगवान् और भागवत (भक्त) के बीच नित्य सम्बन्ध की द्वितीय ‘प्रचुरम्’ (पद्य) में स्थापना की गई है। यों तो पूरा ‘प्रबन्ध’ ही पदात्मक है, पर इस अंश को अर्थ-विशेष का वाहक होने के कारण ‘पद’ कहा जा सकता है।

तेनक—‘ते’ और ‘न’ ये अक्षर, जो आज ‘तोम्’ ‘नोम्’ अथवा ‘ता’ ‘नम्’ में बदल गए हैं।

पाट—‘ता तै’ जैसे तालाक्षर, जिन्हें तमिळ में ‘चोल्लु-कट्टु’ कहा जाता है।

ताल—इलोदु (आज का आदि ताल) का प्रयोग होता है, जिसे ‘कुलिद-तालम्’ (वाद्य) पर बजाया जाता है।

प्रथम दो पंक्तियाँ ‘ध्रुव’ बन जाती हैं; आरम्भ का ‘पद’ ‘पल्लाण्डु’ इस गीत का नाम ही बन गया है। दूसरा पद्य जिसमें चार पंक्तियाँ हैं, उद्ग्राह और आभोग का स्थान पाता है। यानी, चार में से पहली दो पंक्तियाँ उद्ग्राह और दूसरी दो आभोग बनती हैं। ध्यान देने की बात है कि ग्रन्थोक्त क्रम से तो उद्ग्राह पहले और ‘ध्रुव’ बाद में रहता है, किन्तु यहाँ पहले ‘ध्रुव’ और बाद में उद्ग्राह है। जयदेव की अष्टपदियों को गाते समय भी आज हम लोग ‘ध्रुव’ को पहले और उद्ग्राह को बाद में गाते हैं। यथा :—

ललित लवङ्गलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समोरे ।
 मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्जकुटीरे ॥
 विहरति हरिरिह सरस-वसन्ते ।
 नृत्यति युवतिजनेन समं सखि ! विरहिजनस्य दुरन्ते ॥
 ॥ ध्रुव ॥

उड़ीसा का पारम्परिक गायक 'ललित' से गाना शुरू करता है—जो कि उद्ग्राह बनता है और फिर 'ध्रुव' को उठाता है। किन्तु उत्तर भारत में 'विहरति' से शुरू करके 'ध्रुव' को पहले लिया जाता है। वैसी ही स्थिति अरैय्यार परम्परा में दिखाई देती है। एक अन्तर है कि जयदेव की अष्टपदी में तो उद्ग्राह पहले और 'ध्रुव' बाद में है—गाते समय भले ही हम इस क्रम को उलट दें। किन्तु 'पल्लाण्डु' नामक प्रबन्ध में तो जिसे 'ध्रुव' बनाया जा रहा है वह पहले ही है, और जिसे उद्ग्राह कहा जा रहा है वह बाद में है। इससे ऐसा लगता है कि इस गीत में मूल कवि को उद्ग्राह शायद इष्ट ही नहीं रहा होगा। 'ध्रुव' का एक रूप, या हों कहे कि किसी एक कथ्य को पूरे गीत में बार-बार दोहराने की रीति इस प्रबन्ध में इस प्रकार दिखाई देती है कि प्रत्येक पद्य में 'पल्लाण्डु' अथवा 'पल्लाण्डे' कम से कम एक बार अवश्य आया है।

'ध्रुव' के अन्य कई प्रकार आळवारों की वाणी में मिलते हैं। उदाहरण के लिये—श्रीविष्णुचित्त का तृतीय 'प्रबन्ध' २१ पद्यों से बना है और प्रत्येक के अन्त में—'वन्दु काणीरे'—आता है, जिसका अर्थ है—'आ कर देखो !' केवल अन्तिम पद्य में फलश्रुति होने के कारण 'वन्दु काणीरे' नहीं आता है। इसी प्रकार चतुर्थ 'प्रबन्ध' में १० पद्य हैं जिनमें अन्तिम को छोड़ कर सब के अन्त में 'तालेलो' (—दौड़ आओ !) है। प्रत्येक पद्य के अन्त में 'ध्रुव' का सन्निवेश स्तोत्र-परम्परा में बहुधा मिलता है जैसे 'शिवापराधक्षमापन' में 'क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भोः श्रीमहादेव शम्भो !', देव्यपराधक्षमापन में 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति', मधुराष्टक में 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'—इत्यादि। ध्यान देने की बात है कि स्तोत्रों में जिस प्रकार प्रत्येक पद्य के अन्त में 'ध्रुव' के सदृश पदसन्निवेश मिलता है, उसी प्रकार इन तमिळ प्रबन्धों में भी अनेकानेक स्थलों पर ऐसी ही स्थिति मिलती है। सङ्गीतशास्त्र में जो प्रबन्ध निखर कर आया है, उसका पूर्वरूप इन सब में मिलता है। इसकी विस्तृत चर्चा ध्रुपद वार्षिकी के द्वितीय अङ्क में—“ध्रुवपद में ध्रुव” इस शीर्षक के लेख में की जा चुकी है। इन तमिळ प्रबन्धों से उस बात की पुष्टि ही होती है। इनका काल स्तोत्र साहित्य से बहुत पूर्व का है। इसलिये इन का महत्त्व अपूर्व है, अमूल्य है।

श्रीविष्णुचित्त के प्रथम 'प्रबन्ध' को गाने की जिस पद्धति की चर्चा हम कर चुके हैं, उसमें गीत के आरम्भ में ध्रुव को स्थान देना परकालीन गानपद्धति के प्रभाव का परिणाम है।

दिव्य प्रबन्धम् की क्रमयोजना

यह कहा जा चुका है कि श्रीनाथमुनि ने आळ्वारों की वाणी, जो कि प्रायः लुप्त हो चुकी थी, का पुनरुद्धार किया, न केवल साहित्य का, अपितु उसकी गेय और पाठ्य रीति का भी। ध्यान देने की बात है कि साहित्य का पुनरुद्धार जिस धरातल से होता है, उससे भिन्न धरातल से पाठ्य या गेय पद्धति का पुनरुद्धार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की सुरक्षा या यथा सम्भव अविकल रूप में उसका कालान्तर में प्राप्त होना बहुत कुछ सम्भव है, किन्तु गेय और पाठ्य प्रयोगात्मक होने के कारण उनका पुनरुद्धार जिस देश-काल में होता है, उसका प्रभाव अनिवार्य रहता है। इस सत्य की कुछ झलक हमने ऊपर तमिल 'प्रबन्धों' की गेय पद्धति में पायो है। अब संक्षेप में साहित्यपक्ष के योजना-क्रम को समझ लेना प्रासङ्गिक होगा।

नवीं शताब्दी ईस्वी में श्री नाथमुनि ने जब आळ्वारों की वाणी का पुनरुद्धार किया, तब कुछ शताब्दियों का व्यवधान इस वाणी के प्रादुर्भाव और पुनरुद्धार के बीच अवश्य था। सभी आळ्वार एक साथ प्रादुर्भूत हुए होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये सम्भावना यही है कि कम से कम ईसा की दूसरी शताब्दी से इस वाणी का प्रादुर्भाव आरम्भ हुआ होगा। किन्तु यह अनुमान-मात्र है, इससे बहुत पहले ही इस वाणी का प्रादुर्भाव हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

देशभाषा तमिल को भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप देवस्तुति का माध्यम बनाया गया। कई शताब्दियों बाद इस वाणी का जो संकलन या 'व्यास'—(वि+आस) हुआ, वह वेदों के आदर्श पर था। इस दिव्य वाणी के गायक ये १२ (या गोदादेवी को लेकर १३) ही रहे हों—यह आवश्यक नहीं, इससे अधिक ही रहे होंगे, किन्तु इतने ही इस संकलन के समय प्राप्त रहे होंगे।

यह संग्रह कुल चार हजार पद्यों का है, जिसकी अधिकांश इकाइयाँ दस-दस पद्यों की हैं। कई स्थलों पर दस की संख्या का व्यतिक्रम होने से पद्यों का मूल संख्याङ्कन सम नहीं रह पाया है। इस संकलन की 'प्रबन्ध' संज्ञा संगीत के 'प्रबन्ध' से प्रेरित रही होगी—ऐसा अनुमान किया जाता है। यदि यह सत्य हो तो मतङ्ग के बृहद्देशी के प्रबन्ध-निरूपण को कई शताब्दियों की पृष्ठभूमि प्राप्त हो जायेगी।

दिव्य प्रबन्धम् को वेद की कोटि में लाने का श्रेय श्रीरामानुजाचार्य को है, जोकि श्रीनाथमुनि के तीन सौ वर्ष बाद हुए। १२वीं शताब्दी में जहाँ श्री रामानुजाचार्य तमिल प्रदेश में तमिलवेद की प्रतिष्ठा में संलग्न थे, वहीं महाराष्ट्र में उसी समय श्री ज्ञानेश्वर महाराज मराठी प्राकृत की प्रतिष्ठा में रत थे। श्रीरामानुजाचार्य ने दिव्य प्रबन्धम् के गान और पाठ की पद्धति दक्षिण के प्रत्येक मन्दिर में स्थापित की; और इस विशिष्ट कार्य के लिये उन्हें स्वयं दिव्यप्रबन्धम् में ही स्थान मिल गया। तिरुवरङ्गट्टमुतनार ने श्रीरामानुजाचार्य की प्रशस्ति में एक

सौ गीत लिखे, जिन्हें कि मन्दिर के एक शासनादेश द्वारा पाठ्य सामग्री के रूप में दिव्यप्रबन्धम् की तुल्यता दी गई।

दिव्य प्रबन्धम् के संगीतपक्ष के अध्ययन का यह केवल सूत्रपात है। आगामी अङ्कों में श्री श्रीरामभारती के सहयोग से इस अध्ययन को आगे बढ़ाने का हमारा सङ्कल्प है।

इन रचनाओं की छन्दोयोजना वार्णिक न होकर मात्रिक है, इस पक्ष का भी अध्ययन अपेक्षित है।

कृतज्ञताप्रकाश

इस लेख में श्री श्रीराम भारती (Programme executive) आकाशवाणी के अंग्रेजी ग्रन्थ—‘The music of the Alwar Saints’ की पाण्डुलिपि से यथेष्ट सहायता ली गई है। यह पाण्डुलिपि ‘भरतनिधि’ द्वारा सङ्कल्पित ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशन के लिये प्राप्त हुई है।

An Introduction to Tamil Divya Prabandham and its Musical Study

PREM LATA SHARMA

(Editor's Summary)

Sri Nāthamuni (born 825 A. D.) compiled the poetic compositions of the twelve Aḷawars, under the name Divya Prabandham. He had to resurrect these compositions as they had been almost lost in his times; hence they must have come into being somewhere between the third and sixth centuries A. D., may be even earlier. This compilation has been made on the model of the four Vedas, there are roughly 4,000 stanzas in the compilation composed by the famous twelve Aḷawārs and Goda Devi (13th) which are grouped in many cases in units of ten stanzas. Sometimes this number varies and on account of that the consecutive numbering of stanzas overlaps their grouping as song units.

This important corpus of poetic literature that has musical association for more than one and a half millenia has been translated into Hindi and published alongwith the transcription of the text in Devanagari script, from Viswabharati, Shantiniketan in the Halvasia Shodh Granthamala; the general editor is Prof. Ramsingh Tomar, Retd. Head, Hindi Bhavan. The Hindi translation has been done by Sri Srinivas Raghavan. The publication runs into eight volumes, brought out between 1980-89. The price is very reasonable, ranging between Rs. 25 and Rs. 50 for each volume. The translation is lucid and as the original order of words has been kept intact, the reader can easily relate it to the original, word by word. The translator, general editor and publisher deserve to be complimented for this invaluable production.

Sri Nāthamuni not only resurrected and arranged the text, he had also to perform the onerous task of reconstructing the music of these texts. It is to be remembered that whereas reconstruction of a text has verifiable data like MSS or oral tradition, the reconstruction of a musical form or tradition is fraught with many problems for want of verifiable data. Naturally a musical reconstruction is influenced by the time and space (region) of the person undertaking this task. Sri Nāthamuni's reconstruction of the music of these texts must have been influenced by the musical forms and traditions prevalent in Tamilnadu in his times and his reconstruction is also lost to us to-day because of the lapse of more than a thousand years. Many a musician has tried to compose

music for some of these texts and thus much water of *Mārga* and *Deśī* music must have flown through these texts.

The name *prabandha* for this compilation is notable. *Prabandha* stands both for a poetic composition like epic and for a musical composition in music; this word finds place in the *Bṛhaddeśī* of Mātāṅga for the first time, in extant Sastraic literature. It could not definitely be said if Sri Nāthamuni had seen *Bṛhaddeśī*, but if the name *Prabandham* of his compilation has a musical bearing i. e. if these songs were already known as 'prabandha' in tradition, then the 'prabandha' described in *Bṛhaddeśī* gets a background of several centuries.

Sri Srirama Bharati, a disciple of Prof. V. V. Sodagopan has reconstructed the music for many of these texts, with the help of the Araiyyar (guru) of the Narayana temple in Melkote. The author of this article has drawn upon the press copy of a book entitled 'The Music of the Aḷwar Saints' by Srirama Bharati, to be published by Bharata Nidhi in the near future. He has shown in this book that all the *aṅga-s* (component limbs) of 'prabandha' viz. *svara* (solfa syllables) *tāla*, *tena* (the syllables 'te' 'na') *padu* (meaningful text), and *pāṭa* (drum-syllables) and *biruda* (eulogistic epithets) are used in rendering the first 'prabandha' of Periaḷwār Viṣṇucitta known as 'Pallāṇḍu'; in fact *pada* and *biruda* are present in the verbal composition itself, *tāla* is present in the musical rendering and the other three viz-*svara*, *pāṭa* and *tena* are added in the musical rendering. One could not say whether the form of this musical rendering dates back to the time of Sri Nāthamuni. As regards the *dhātu-s* or sections, *dhruva*, *udgrāha* and *ābhoga* are present in the first *prabandha* referred to above, but all others have only two sections viz. *dhruva* and *ābhoga*.

The relevance of the Tamil Divya Prabandham to the historical study of dhrupad lies in the fact that *prabandha* being the predecessor of dhrupad, has to be studied in all its regional varieties for enabling the study of dhrupad in a wider perspective.

Rāmānujāchārya (12th cent A. D.) gave the status of Veda to this Tamil. Divya Prabandham and established the musical rendering and recitation of these texts in all Vaiṣṇava temples of the South.

DHRUPAD : SWIMMING IN SOUND

HARRIOTTE HURRIE RANVIG

In the United states I have taught a number of courses on Hindustani music and introduction thereto.

I described *svara*, each *svara* in a Raga, as a space, a room. One can dwell in it, one can stroll through it, or one can dash through it, or avoid it altogether.

For western students of music, as was I 19 years ago, this point of view and way of experiencing notes is something quite different and much in contrast to the thick-layered texture of notes used in most western harmonic music.

Twenty years ago I was privileged to listen to Hindustani instrumental and vocal concerts at Wesleyan University in Middletown, Connecticut, U. S. A. The vocal concerts, *khayal* style only, interested me very much because I was already a vocalist in several western genres of music.

Those concerts and other commercial recordings brought by friends from India inspired me to travel to India expressly to begin my study of *khayal* vocal style.

After some months in India I had the good fortune to hear some Dhrupad performances, to study and to analyze the Dhrupad form in my music appreciation course at B. H. U.

After 19 years of periodic *khayal* vocal study plus history and theory study, I have had the opportunity to listen to perhaps two dozen concerts of Dhrupad and I have in my music collection half a dozen good Dhrupad recordings. Each time I listen to a Dhrupad vocal performance I am singularly struck by certain qualities unique to Dhrupad. Initially, notes are held for long periods. This permits the experience of dwelling in each interval of the Rāga. The strong sense of the movement in and through time, is relaxed in those long held notes of the initial *ālāp*. Throughout the *alap*, *jor* and *jhala*, there is no time-keeping instrument beyond the voice or melody instrument. For me this allows a more complete concentration on *swara* and Rāga 'chalan'. Then when the vocalist introduces a pulse in the *jor* section I experience it as a natural progression of rāga and rhythmic development. The use of the voice

ranges from the long, slow, clearly held tones to the fast driving vocal patterns used in the rhythmic sections of *jor* and *jhālā*. The steady gradual development of the Rāga transports one with it to and through the cross-rhythmic driving climax of the vocalist presenting and improvising on the composition with the counterpoint accompaniment provided by the accompanying pakhawaj drum. My mind engages more completely when I listen to Dhrupad. Consequently, I have a sense of having truly learned something and of having actually participated significantly.

The perception of music is clearly a personal individual experience. If one considers complex classical genres of music, the more knowledge and analysis one has, the deeper the enjoyment of the performance. This opinion arises out of my own experience of learning khayal and learning about other genres of Indian music.

Dhrupad intrigues me because its form is utterly different from khayal and resembles at least the alap, jor and jhala of sitar. The presentation of Dhrupad compositions with highly rhythmic and textually structured improvisation reminds me strongly of Karnatak vocal performances. I have wondered whether there is a clear historical link from one to the other. Trying to prove this connection is probably not possible but that is not relevant. We have the opportunity of seeing, observing one possibility of the evolution of musical forms.

This understanding or awareness is an educational experience.

The reader might well enquire of me, "Why are you not studying Dhrupad?" I have reflected many times on that question. I was first exposed to khayal and heard many recordings and concerts of that style before I had the experience of listening to Dhrupad. I also felt that my voice would never be powerful enough to give the weight which is a feature of Dhrupad vocal performance. In closing I would like to express the sincere wish that the teaching, learning and performing of dhrupad may expand and thereby enrich many more individuals' lives both in India and abroad.

ध्रुपद : स्वर में तैरना

हेरियट हारी रेन्विग

(सम्पादिका-कृत सार-संक्षेप)

लेखिका का कहना है कि भारतीय संगीत में स्वर एक जगह, एक कमरे की तरह है, जिस में आप रह सकते हैं, गुज़र सकते हैं, टकरा सकते हैं या जिससे अछूते भी रह सकते हैं। पाश्चात्य संगीत के विद्यार्थी के लिये यह एक नया अनुभव है।

लेखिका को बीस वर्ष पहले सं० २० अमेरिका में वेस्लीयन (मिडलटाउन, कनेक्टिकट) में भारतीय संगीत के गायन-वादन की महफ़िलें सुनने का अवसर मिला था। उनमें गायन केवल ख्याल का ही सुनने को मिला था। उससे वे अत्यन्त प्रभावित हुईं, क्योंकि पाश्चात्य संगीत की कई विधाओं का गायन वे करती आई थीं। ये महफ़िलें और कुछ व्यापारिक रिकॉर्ड सुनने के बाद आप को भारत आ कर ख्याल सीखने की प्रेरणा हुई। यहाँ आने के बाद आप को कुछ बार ध्रुपद सुनने का अवसर मिला, और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'सङ्गीतास्वादन' (Music appreciation) पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ध्रुपद का विश्लेषण समझने को मिला। १९ वर्षों तक बीच-बीच में ख्यालगायन का शिक्षण लेने और सङ्गीतशास्त्र का अध्ययन करने के दौरान आप को ध्रुपद की प्रायः बीस-एक महफ़िलें सुनने को मिलीं और प्रत्येक बार उसके कुछ विलक्षण गुणों से आप प्रभावित हुईं। ध्रुपद के आलाप के आरम्भ में स्वरों पर लम्बा ठहराव प्रत्येक स्वर के अन्तराल में विचरने का अवसर देता है। काल में, और काल में से गति का भाव इन लम्बे स्वरों के लगाव में शिथिल पड़ जाता है। आलाप, जोड़ और झाला में कोई भी ताल-वाद्य साथ नहीं देता; इस से स्वर पर और राग के चलन पर ध्यान केन्द्रित करने का अवसर मिलता है। आलाप के बाद जोड़ में जब लयस्पन्द डाला जाता है, तब राग का एक स्वाभाविक विकास और लयात्मकता का आविर्भाव होता है। कण्ठ लम्बे, धीमे, स्पष्ट उच्चरित स्वरों से क्रमशः द्रुतगामी सञ्चारों की ओर बढ़ता है। इस के बाद गायक जब पखावज के साथ बन्दिश में 'उपज' करता है तब उस के और पखावज पर प्रस्तुत ताल के बीच 'काउन्टर प्वाइन्ट' (ग्रहभेद) की सृष्टि होती है। इस श्रवण-प्रक्रिया में लेखिका को सघन भागीदारी का अनुभव होता है।

संगीत का श्रवण सर्वथा व्यक्तिगत अनुभव है। किसी भी संगीतविधा को सुनते समय मन में उस की जितनी गहरी विश्लेषणात्मक समझ होगी, उतना ही आनन्दग्रहण हो सकेगा—ऐसा लेखिका का अनुभव है।

सितार में भी ध्रुपद के सदृश ही आलाप-जोड़ झाला का दर्शन होता है, और ध्रुपद की बन्दिश की सुगठित और तालप्रधान 'उपज' में कर्णाटक सङ्गीत का सादृश्य दिखाई देता है।

ध्रुपद : द्वन्द्व से द्वन्द्वातीत होने का अनुभव

कमलेशदत्त त्रिपाठी

‘दिक्’ और ‘काल’ में प्रसृत सम्बन्धों के ‘द्वन्द्व’ को अतिक्रान्त कर क्षण भर ‘स्व’ में विश्रान्ति की सम्प्राप्ति के लिये भारतीय ‘क्लासिकी’ साहित्य और कला के रूपों के समास्वाद की इच्छा किसी भी सहृदय का लक्ष्य हो सकती है। सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार, निषेध या उसके परिवर्तन की चेतना से आविर्भूत साहित्य अथवा कला के रूपों के प्रति आकृष्ट होने का प्रयोजन बिल्कुल भिन्न हो सकता है, किन्तु जहाँ सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार या परिहार के नियम का अतिक्रमण करने के लिए सम्बन्धों के निरूपण द्वारा ही सम्बन्धों के पार जाने की प्रक्रिया विभावाद के साधारणीकरण में प्रतिफलित होती हो और जहाँ परिणति ‘स्वसंवित्’ में विश्रान्ति हो, उस साहित्य और कला के रूप का आस्वाद-प्रकार भी भिन्न होगा।

भारतीय ‘क्लासिकी’ संगीत के श्रोता के रूप में क्षण भर द्वन्द्वों के पार जाकर अपने में ठहरने की इस स्थिति का अनुभव मुझे कई बार बहुत स्पष्ट रूप से होता रहा है। यद्यपि साहित्य के समास्वाद की प्रक्रिया से संगीत के समास्वाद की प्रक्रिया में अन्तर है, फिर भी पार्यन्तिक अनुभव दोनों में ही समान है। उत्तर भारत के संगीत के विभिन्न क्लासिकी और लोकरूपों के प्रति आकर्षण का मुख्य प्रयोजन मेरे लिये इसी ‘विश्रान्ति’ की खोज है। ‘खयाल’ और ‘ध्रुपद’—इन दो प्रमुख क्लासिकी गायन-शैलियों के प्रति भी मेरा लगाव संगीत के अनुभव के इस चरम प्राप्तव्य के लिये ही रहा है।

अपने में ठहरने के अनुभव अथवा ‘स्वसंविद्विश्रान्ति’ के सामान्य अनुभव के अतिरिक्त प्रत्येक कलारूप का अपना विशिष्ट अनुभव भी होना चाहिए, अन्यथा नाना कलारूपों की अवस्थिति का प्रयोजन ही नहीं सकेगा।

इस दृष्टि से ‘खयाल’ और ‘ध्रुपद’ गायन सुनने के अनुभव की विशिष्टता पर ध्यान जाता है। ‘खयाल’ और ‘ध्रुपद’ दोनों ही गायन-शैलियों में ‘राग’ के पूर्ण स्वरूप के विस्तार तथा ‘लय’ और ‘ताल’ में समभिव्यक्त ‘काल’ की क्रीड़ा की अपार सम्भावनाएँ हैं। दोनों ही शैलियों में स्वरों के विशिष्ट संयोजन और संगुम्फन के बीच स्वर के असीम विस्तार और लय-ताल की स्थिति-गति की क्रीड़ा के अवसर हैं, किन्तु ध्रुपद में आलाप, जोड़ और झाला के प्रविभाग के कारण स्वराकार के सन्धारण तथा राग-स्वर के विस्तार का अनुभव और फिर लय-ताल में अन्तःस्थित रहकर पदसहकृत लय-ताल-विनिर्मित कालशक्ति अधिक विविक्त रूप से अनुभव की जा सकती है।

‘आलाप’ में स्वरों पर ठहराव और ‘राग’ के विस्तार को कालचक्र से स्वतन्त्र रख कर अनुभव करना एक भिन्न आस्वाद ही प्रदान करता है। यद्यपि ‘खयाल’ की गायन शैली में भी कालबन्ध का अतिक्रमण कर सम्प्राप्त आलाप-विस्तार दुर्लभ नहीं है, किन्तु ‘ध्रुपद’ में आलाप को वन्दिश की सजीली-भड़कीली अदायगी के सामने रखकर आलाप की रंजनशीलता और लय-ताल की क्रीड़ा के विविक्त आनन्द को अधिक स्पष्ट रूपों में अनुभवगम्य कर दिया जाता है।

स्वर में ठहराव, स्थायी-अन्तरा-संचारी-आभोग की अन्तःक्रीड़ा और स्वर-ताल में मुक्त संचरण का चमत्कार ‘ध्रुपद’ के श्रवण से सम्प्राप्त आनन्द में क्रिया और विश्रान्ति, स्थिति और गति का अद्भुत समन्वय स्थापित करते हैं।

गायक की सबल आवाज़, गायन की शक्तिमत्ता तथा ‘पखावज’ का भराव से समृद्ध गंभीर नाद भी ‘ध्रुपद’ श्रवण से सम्प्राप्त अनुभव की विशिष्टता का एक बड़ा कारण है। आलाप की विश्रान्ति-भूमि से ‘लङ्घन्त’ ‘भिङ्घन्त’ की ऊर्जा की भूमि पर आना जीवन की सक्रिय भूमिका और विश्रान्ति दशा के ‘शम’ के अनुभवों का उनकी परस्परता में साक्षात्कार है, किन्तु चरम अनुभव सक्रियता और क्रीड़ा का होता है।

‘ध्रुपद’ मसृण—सुकुमार और परुष गम्भीर नाद-लय का भी एक विशिष्ट समन्वय है, किन्तु पार्यन्तिक-अनुभव धीरता के शिखर पर पहुँचता है। मृदुता और लालित्य, गायक एवं गायन, वाद्य एवं वादन की गंभीरता के भीतर प्रवाहित होते हुए जब श्रोता तक पहुँचते हैं, तो उसका अनुभव एक भिन्न ही अनुभव होता है। ध्रुपद की सहज गम्भीरता से संगत होकर जब परुष-गम्भीर स्थिति की अभिव्यक्ति होती है, तब ध्रुपद का एक अन्य स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

एक श्रोता के रूप में ‘ध्रुपद’ गायन की यह विश्रान्ति और क्रिया, स्थिति और गति, सुकुमारता और गम्भीरता की परस्परक्रिया तथा गायक और वादक, गायन एवं वादन का शान्त-समर और सतत-संवाद मुझे अनन्य आनन्द देते रहे हैं। भारतीय क्लासिकी संगीत की इस शैली की प्रबन्धात्मकता और प्रगोतात्मकता भी मेरे मन को सदा आकृष्ट करती रही है। द्वन्द्व से द्वन्द्वातीत होने का यह अनुभव इतना सुलभ और इतना सहज !

Dhrupad : An Experience of Transcending Duality

KAMALESHA DATTA TRIPATHI

(Editor's summary)

The desire for 'enjoying' forms of Indian classical literature and arts for the sake of transcending the duality of relationships, spread out in space and time, and attaining repose in self for a moment, could be the goal of any *saṃdāya* (aesthete). In the context of art-forms emanating from the acceptance, rejection or consciousness of change of a particular relationship, the objective or motivation of being attracted to them (art-forms) could be totally different; but where the process of transcending relationships, and the goal of transcending the acceptance or rejection of a particular relationship culminates or gets fulfilled through the enunciation of relationships, i. e. through the 'universalization' of *Vibhāvas* etc. and where the culmination comes about in the repose in self-consciousness, that literature or art-form will certainly have a different mode of 'enjoyment.'

As a listener of Indian classical music, the author has experienced the state of resting in his self for a moment, beyond all duality. Although the process of 'enjoyment' is different in literature and music, but the final experience is the same in both. The author's attraction towards various classical and folkforms of the music of North India, is motivated by his search for this repose.

Although the state of rest or repose in self-consciousness is common to all art-forms, each art-form should also have its own characteristic experience; otherwise there would be no purpose for the various art-forms. From this viewpoint, the peculiar or distinctive nature of the experience of listening to Dhrupad and Khayal attracts attention. Both these forms have infinite possibilities of elaboration of *rāga* and play of 'time' manifested in *laya* and *tāla*; but *dhrupad* embodies a clearly distinguished manifestation of the holding and movement of *svaras* in *alāp*, *jor* and *jhālā* on the one hand and the play of 'time' through a combination of *pada* (word) *laya-tāla* and *svara* on the other.

The holding of or steadiness in *svaras* in the deliviation of *rāga*, remaining independent of the time-cycle provides a distinctive 'enjoyment'. Although the possibility of *alāp* 'transcending' the bonds of time is not absent in Khyal, yet in Dhrupad the *alāp* juxtaposed to the

colourful rendering of the composition presents a distinguished delight and the enjoyment of the play of *laya-tāla* becomes distinct. Thus *Dhrupad* presents a wonderful blending and yet distinctive role of steadiness and motion, action and rest.

The transition from the restful state of *ālāp* to the energetic presentation of a 'combat' with *laya-tāla* presents a similarity with the restful and active state of life. The strong voice of the singer, the virility of performance supported or 'filled up' with the deep sound of *pakhāvaj* all contribute to the distinctive nature of the aesthetic delight provided by Dhrupad. It embodies a blending of the soft, delicate and strong, or 'harsh', but the culmination comes in the experience of the solemn and the grave. There is a peaceful 'fight' and constant dialogue in the performance; the combination of the epic and lyric in this form has always intrigued the author.

THE DAGAR TRADITION : CHARACTERISTICS OF ĀLĀPA

RITWIK SANYAL

In my previous articles on Dagar Tradition in the Dhruvad Annals 1986 and 1989, I had drawn upon the brief history of the family, its genealogy, characteristics of singing and playing on the Rudra-vina, voice and tone. In this article, I would like to draw upon the system of ālāp and the beauty of improvising; all based upon my rigorous training in the oral tradition of Ustad Zia Mohiuddin Dagar and Ustad Zia Fariduddin Dagar.

Importance of Ālāp

Ālāp or *ālāpāri* plays a very important part in the melodic improvisation of the Dagar vānī. So ālāp becomes its forte. That does not imply that the Dagers are inept in *tāla* improvisation. In fact they have a very intricate and complex system of rhythmic improvisation (*layakāri*) and this would be dealt elaborately in another article related to tāla in the near future.

The whole concept of ālāp in the Dagar tradition is like a worship (*upāsana*). When we worship a deity the idol is beautifully decorated and then consecrated and finally the rituals done in stages with utmost concentration and piety. In ālāp, as we make the myriad tonal patterns, we directly experience the joy it occasions. It releases us from tension and the singer and the listeners are engulfed in sound. The tones of the rāga become meaningful through proper intonation and just melodic phrases and the soul of rāga (like *prāna pratiṣṭhā* in an idol) emerges in the ālāp. In ālāp, the tones are gradually unfolded beginning on the tonic, going to the *mandra* register and then again going up to *madhya* and *tāra*. It is like a beautiful but difficult journey; it is moving from here to eternity. My Ustadji says in a lighter vein that the journey has pitfalls; so one has to be careful, get up cautiously and proceed again on the long and arduous path. In ālāp one has also to be cautious about the slippery phrases that might come across a particular rāga. This is important to maintain the purity and individuality of an established rāga. The journey also indicates a search (lit. '*mārga*'). The search could be the goal of life, it could be one's deity or it could be the unseen (*adṛṣṭa*). The realisation of the absolute viz. 'Reality is one, savants talk about it differently', stands verified and confirmed.

Merukhand Ālāp

The system of ālāp in the Dagarvani is called *merukhand* ālāp which employs 10 finesses called ākār, dagar, dhuran, muran, kampit, āndolit, lahak, gamak, hudak and sphūrṭi (vide my article DA 1986). The 10 finesses form the component of dagarvani ālāp and these are freely used in tonal phrases. The ālāp is called *merukhand* (from 'khandameru' vide *Saṅgīta Ratnākara*) because it exploits the infinite possibilities of tonal phrases (*svara sañcāra*) through permutation and combination. The Dagers go a step further; they also use the word 'Sumerukhand' which is an extension of *merukhand* taking into account possibilities through omission and addition of *vikṛta* notes. Thus the numbers get multiplied in the 'sumerukhand' process. In the oral tradition, we were asked to improvise a rāga within a particular tonal range (e. g. from *Sa* to *Pa* in Multani) for hours together. This enhanced our creative ability of improvising with the help of permutation of notes in a rāga, more so in the later stages of Jor and Jhālā.

Tone and Rāga improvisation

The Dagar tradition affirms that the ālāp is not merely an expansion of the rāga (*rāga-vistāra*) but also improvising and embellishing the tones (*svaravistāra*) or Svar kī upaj. In khyal genre today, so much importance is given to rāga-vistara that *svara-vistāra* is almost neglected. In the Dagar tradition, the two go hand in hand. In a performance, the two operate almost simultaneously. When the rāga is gradually unfolded note by note in a rāga, the typical rāga phrases carry with it the subtle tonal inflections including the micro-tonal vacillations, so typical of the Dagarvāni ālāp. I have discussed the tonal characteristics in my previous article (vide DA 1989). Sometimes the tonal inflections are so subtle that they become hardly noticeable to the unskilled and untrained ears.

Let me cite this in rāga Todi. Every student of classical music knows that 'Re Ga Re Sa' (here Re, Ga komal) is a typical Todi phrase. But does mere singing of the phrase give us the Todi flavour? Not so. The 'Ga' is slightly diminished with a longish 'Re'. The intonation of Ga with the exact śruti-inflection and a perfection consonance of Re with Dha is called for, and that gives us the Todi color. In the same phrase, if the 're' is pronounced less, the phrase would end up as Bhairavi. This example indicates the deep relationship that exists between the rāga and its tone. The result emerges only through homogeneous application of the two

Stages of ālāp

As we all know, the present dhrupad *ālāp* is a good example of *anibaddha* and is called *Rāgālāpti* in Sangita Śāstra. *Ālāp* or *ālāpcārī* (In Bengali, 'alap' is used for introducing a person) introduces the *rāga*, unfolding it very slowly in the beginning. Then in the next stage we feel the pulse and that is *Jod*. In the third stage it speeds up and that indicates *jhālā*. The *vilambit-Madhya-drut* stages are clearly indicated in a complete *ālāp*.

However, in practice, the stages could be more than three. Here let me state that the term 'alap' stands for the whole alap which includes *jor* and *jhala*. 'Alap' could also stand for the first stage only when we talk of *alap-jod-jhala* separately. In the Dagar tradition, a very long alap may consist of several stages. After a very slow alap, the *jor* may consist of slow, medium and *drut* sections (*vilambit*, *madhya*, *drut jod*). The same holds for *jhala* with slow, medium and *drut* sections. These total up to seven stages. In each stage the tempo increases gradually and finally ending up with very fast tempo *jhālā*. In *jor* the pulse consists of two beats and in *jhālā* of four beats.

During my conversation with Pt. Nikhil Ghosh of Bombay, he spoke of *bārdūārī ālāp* i.e. *ālāp* with twelve doors in certain oral tradition. Concert platforms today don't permit such elaborate *ālāp* and my Ustadji says that it becomes impossible to demonstrate a full-fledged *ālāpcārī* except for informal gatherings. I have heard my Ustadji play *ālāp* in Rag Megh for 6 hours. I have performed with Ustad Z. F. Dagar alap of 3 hours' duration.

Ālāp Syllables

The Dagar tradition is specific and careful about the use of syllables in *ālāp* improvisation. They use meaningless syllables which they have derived from the esoteric Vishnu mantra "Om Hari Nārāyaṇa śaraṇa tārāṇa ananta hari Om". The syllables later on were dubbed as *nom-tom* alap by the votaries of Hindustani music. It is possible to roughly codify the syllables and to find out a certain order starting with one syllable and then the use of a group of syllables taken together. These can be enlisted below :

1. One syllable : Ri Nā Num—used separately for sustaining and expanding a note.
2. Two syllables : Ra na, Ra nā, Ra num,
Ri nā, Ri num

3. Three syllables : Ra na na, Ra na nā, Ra na num
Ri ra na (nā, num)
Ta ra na (nā, num)
Ta na tum (used occasionally)
4. Four syllables : Ri ra ra na (nā num)
Ra ra ra na (nā num)
Ti ta ra na (nā num)
Te ta ra na (nā num)
5. Five syllables : Ri ra ra na na (nā num)
Ta ra ra na na (nā num)
Ti ta ra na na (nā num)
Te ta ra na na (nā num)
6. Six syllables : Ri ra ra, ra na na (nā num)
Ta ra ra, ra na na (nā num)
Ti ta ra, ra na na (nā num)
Te ta ra ra na na (nā num)
7. Seven syllables : Ri ra ra, ra na na na (nā num)
Ta ra ra ra na na na (nā num)
Ti ta ra, ra na na na (nā num)
Te ta ra, ra na na na (nā num)
8. Eight syllables : Ri ra ra na, ra na na na (nā num)
Ta ra ra na, ra na na na (nā num)
Ti ta ra na, ra na na na (nā num)
Te ta ra na, ra na na na (nā num)

Concluding remarks

I strongly remember with reverence what the Late Thakur Jaidev Singh used to say with conviction to me and all others. He would say that the ālāp is the essence of Indian music. The soul of a rāga is in the system of alap. It is also the finest expression of one's feeling through sound.

In our music, Ālāp is an integral part of melody, not only in singing but also playing. No other music in the world has such a coherent system of the art of improvisation. In India, the vocalists today have been neglecting this art, whereas good instrumentalists value ālāp so much that they try to imbibe the ālāp techniques of Dhrupad instrumental music. I am reminded of my Ustad Zia Mohiuddin Dagar say—“Beta, svar lagao, Pyār se lagāo”. This is the final advice that I received from him to perform good ālāp. We have to love the tones, like loving, caressing and cuddling a small child.

डागरपरम्परा : आलाप की विशिष्टतायें

ऋत्विक् सान्याल

[सम्पादिकाकृत सारसंक्षेप]

ध्रुपद वार्षिकी के प्रथम अङ्क (१९८६) में लेखक ने डागर-परम्परा के वंशवृक्ष का निरूपण किया था, और चतुर्थ अङ्क (१९८९) में गायन में स्वर के लगाव और रुद्रवीणा की विशिष्ट प्रविधि (Technique) को समझाया था। प्रस्तुत लेख में आलाप की पद्धति का वर्णन है, जिसका आधार है उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर तथा उस्ताद ज़िया फरीदुद्दीन डागर के पास गुरुशिष्य-परम्परा में आप का प्रखर शिक्षण।

आलाप का महत्त्व

आलाप अथवा आलापचारी का डागरबानी में बहुत महत्त्व है। इसका यह अर्थ नहीं कि डागर लोग ताल के काम में कच्चे हैं। ताल-पक्ष पर निकट भविष्य में विचार किया जायेगा।

डागर-परम्परा में आलाप उपासना के सदृश है। जब हम किसी विग्रह की पूजा करते हैं तो उसे सुन्दरता से सजाया जाता है और क्रमशः पूरा 'कर्मकाण्ड' सम्पन्न किया जाता है। आलाप में जिन अनन्त स्वरसञ्चारों की सृष्टि की जाती है उनसे आनन्दप्राप्ति होती है, तनाव से मुक्ति मिलती है और प्रयोक्ता तथा श्रोता नाद में निमग्न हो जाते हैं। स्वर-विस्तार में राग की आत्मा विग्रह में प्राण-प्रतिष्ठा की भाँति प्रकट होती है। पङ्क्ति से शुरू कर के मन्द्र-स्थान में जाना, पुनः मध्य और तार तक जाना, इसमें स्वरों की तह खुलने जैसी विकास-क्रिया होती है। यह एक सुन्दर किन्तु कठिन यात्रा होती है। यह गति यहाँ से नित्य या शाश्वत के प्रति होती है। इस यात्रा में स्वलन और पतन की अनेक सम्भावनायें हैं। सावधान रह कर चलना होता है, और पुनः पुनः उठकर लम्बे और कठिन मार्ग पर आगे बढ़ना होता है। किसी प्रतिष्ठित राग की शुद्धि बनाये रखने के लिये फिसलन-भरे सञ्चारों से बचना होता है। इस यात्रा में खोज या 'मार्ग' का भी भाव रहता है। यह खोज जीवन के उद्देश्य की, अपने इष्टदेव की, अथवा 'अदृष्ट' की हो सकती है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इसकी अनुभूति सिद्ध हो जाती है।

'मेरुखण्ड' आलाप

डागरबानी में आलाप की पद्धति की संज्ञा मेरुखण्ड है। इसमें दस प्रकार के सूक्ष्म प्रयोग होते हैं—आकार, डगर, धुरन, मुरन, कम्पित, आन्दोलित, लहक, गमक, हुदक, और स्फूर्ति (द्रष्टव्य ध्रु० वा० १९८६) संगीतरत्नाकर के खण्डमेरु की

ही मेखण्ड कहा जाता है। स्वरसञ्चार की अनन्त सम्भावनाओं को क्रमभेद (permutation) और संयोजन (combination) के द्वारा अनावृत किया जाता है। गुरुशिष्य-परम्परा में स्वरों के निश्चित क्षेत्र (जैसे कि मुल्तानी में स से प तक) में विस्तार करने का घण्टों अभ्यास कराया जाता है। इससे स्वर-विस्तार में सर्जनात्मकता बढ़ती है। विशेष-रूप से जोड़ और झाला में।

स्वर और राग का विस्तार

डागर परम्परा में यह माना जाता है कि आलाप केवल रागविस्तार नहीं है, बल्कि स्वरों की सजावट या स्वरविस्तार भी है। इन दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है। और दोनों प्रायः एक साथ चलते हैं। आज ख्याल में रागविस्तार को ही महत्त्व दिया जाता है और स्वरविस्तार की उपेक्षा की जाती है।

आलाप के चरण

ध्रुपद का वर्तमान आलाप संगीतशास्त्रोक्त रागालप्ति है। आलाप या आलापचारी आरम्भ में धीमी गति से राग का परिचय कराता है। बंगला भाषा में परिचय कराने को आलाप कराना कहते हैं। अगले चरण में लयस्पन्द का अनुभव होता है। तीसरे चरण में गति द्रुत हो जाती है और झाला बनता है। आलाप-जोड़-झाला तीनों को मिलाकर सामान्य संज्ञा भी आलाप ही है। प्रारम्भिक आलाप में भी कई चरण हो सकते हैं, जोड़ में भी विलम्बित, मध्य, द्रुत हो सकते हैं, और वैसे ही झाला में भी तीन लय के अनुसार तीन खण्ड हो सकते हैं। प्रत्येक में, यानी आलाप जोड़ झाला में क्रमशः लय द्रुत की ओर चलती है। जोड़ में दो-दो मात्रा की इकाई से लय बनती है और झाला में चार मात्रा से।

आलाप के बोल

डागर परम्परा में आलाप के बोल या अक्षरों के प्रयोग में बहुत सावधानता बरती जाती है। इन बोलों का मूल 'ओम् हरि नारायण, तरन-तारन-अनन्त हरि ओम्' है—ऐसा माना जाता है और इन की संक्षिप्त संज्ञा 'नोम् तोम्' कही जाती है। इन बोलों की निश्चित व्यवस्था बनाई जा सकती है, यथा—

१. एकाक्षर— रि ना नुम्—इन का एक-एक कर के स्वर का कर्षण करने में यानी ठहरने में उपयोग होता है।
२. द्व्यक्षर— र न, र ना, र नुम्, रि ना, रि नुम्।
३. त्र्यक्षर— र न न, र न ना, र न नुम्, रि र न (ना, नुम्)
त र न (ना, नुम्) त न नुम् (क्वचित् प्रयुक्त)
४. चतुरक्षर— रि र र न (ना, नुम्) त र र न (ना, नुम्)
ति त र न (ना, नुम्) ते त र न (ना, नुम्)

५. पञ्चाक्षर— रि र र न न (ना, नुम) त र र न न (ना, नुम)
ति त र न न (ना नुम) ते त र न न (ना, नुम)
६. षडक्षर— रि र र, र न न (ना, नुम)
त र र, र न न (,, ,)
ति त र, र न न (,, ,)
ते त र, र न न (,, ,)
७. सप्ताक्षर— रि र र, र न न न (,, ,)
त र र, र न न न (,, ,)
ति त र, र न न न (,, ,)
ते त र, र न न न (,, ,)
८. अष्टाक्षर— रि र न न, र न न न (,, ,)
त र न न, र न न न (,, ,)
ति त र न, र न न न (,, ,)
ते त र न, र न न न (,, ,)

उपसंहार

लेखक ने स्व० ठाकुर जयदेव सिंह की इस उक्ति को स्मरण किया है—
“आलाप भारतीय संगीत की आत्मा है।” आलाप के समकक्ष आशुसर्जन की कोई
व्यवस्थित पद्धति विश्व के संगीत में नहीं है।

अमर ध्रुपद-साधक भक्त पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी

“गायनाचार्य”

मंगला तिवारी

ऋषियों की तपःपूत भारत की यह पावन वसुन्धरा मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों की अक्षयनिधि से सम्पन्न होने के कारण ही जगद्वन्द्य रही है। यहाँ सूक्ष्माति-सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन के साथ ही साथ विभिन्न ललित कलाओं का भी गहनता से तत्वालोचन एवं उसी परम्परा में नवीन उद्भावनाओं का सम्यक् विकास हुआ है। समग्र भारतीय जीवन संगीत से ओत-प्रोत है और जनमानस ने इसको स्वयं में विविध रूपों में समाहित किया है। ध्रुपद भी संगीत की आध्यात्मिक आभा को विश्व में प्रसारित कर रहा है और ध्रुपद की परम्परा में काशी के गायनाचार्य के रूप में आशु गायक पं० श्री शिवप्रसाद त्रिपाठी के नाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पूज्य नानाजी पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी की स्मृतियाँ आज भी विह्वल कर देती हैं। इनका जन्म गाजीपुर (उ० प्र०) जिले के तिवारीपुर ग्राम में हुआ था। धर्म, अध्यात्म और संगीत का संस्कार इन्हें अपनी माता तपती देवी से प्राप्त हुआ था। वे दैनिक कार्यों के दौरान अपने नैसर्गिक स्वर में भजन एवं गीत गाया करती थीं। और यहीं से नानाजी को संगीत के स्वरों के प्रति आकर्षण पैदा हुआ, वे अपनी माँ के साथ गाया करते थे और यहीं से स्वर, ममता के साथ लिपट कर एक अलौकिक रूप लेकर निखरा। इनके पिताजी ने इन्हें उसी गाँव के कुलपुरुष पं० बेनीप्रसाद त्रिपाठी और पं० अम्बिकाप्रसाद त्रिपाठी, जो भारतीय संगीत के मर्मज्ञ थे, की सेवा में दिया और यही प्रेरणा साधना का रूप लेकर आदरणीय नानाजी के लिए आशीर्वाद बनी। इनके पिता पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का प्रोत्साहन भी आशीर्वाद-स्वरूप प्राप्त हुआ। गाँव की शुरुआती शिक्षा के बाद इनको पिता ने अपने परिचित मित्र और कलकत्ता के भृगुसंगीतालय के संस्थापक श्री गुरुनारायण वर्मा के संरक्षण में कलकत्ता भेजा और वहाँ संगीतालय के अध्यक्ष संगीतशिरोमणि भृगुनाथ वर्मा के कुशल निदेशन में इन्होंने ध्रुपद और धमार गायन की शिक्षा के साथ-साथ मृदंग-वादन का भी अभ्यास किया, इस प्रक्रिया में उन्हें कलकत्ता के पं० शंकर भट्ट, श्री मोहिनी बाबू और श्री विश्वनाथप्रसाद का भी निर्देशन मिला। बाद में नानाजी ने हारमोनियम पर स्वतन्त्र रूप से गीत बजाने की शैली भी विकसित की जो उन्होंने हैदराबाद के गायनाचार्य पं० श्री लक्ष्मण राय से सीखी थी। संगीत शिक्षा के व्यावहारिक क्षेत्र में इन्हें जहाँ एक ओर उपर्युक्त गुरुओं से सफलता मिली, वहीं सैद्धान्तिक शिक्षा, वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के आदिपुरुष पं० श्री विष्णु नारायण भातखण्डे जी से प्राप्त हुई। गुरुओं के

प्रति असीम श्रद्धा के साथ-साथ उनके निर्देशों का भक्तिपूर्वक पालन करते हुए उन्होंने अनवरत साधना की और अल्पकाल में ही गायन-वादन के सिद्ध कलाकार हो गये। बाद में ये काशी आए और यहीं स्थिर हो गये।

काशी के संगीत-प्रेमी आपको “गायनाचार्य” जी के नाम से जानते थे। आपका जीवन भारतीय परम्पराओं से आप्लावित था और व्यवहार अत्यन्त सरल और स्नेहिल था। शिष्यों और संगीतप्रेमियों को हमेशा उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग और पारिवारिक व्यवहार प्रदान किया। अपने दो पुत्रों की असमय मृत्यु के बाद भी वे धैर्यपूर्वक संगीत साधना में रत रहे और संगीत शिक्षण का कार्य भी अनवरत जारी रखा। अपनी पुत्री और मेरी माँ शारदा देवी को भी उन्होंने संगीत की परम्परा दी और भजनों की कई बन्दिशें उन्हें सिखाईं।

संगीत के प्रचार-प्रसार के लिए भी उन्होंने कई उल्लेखनीय कार्य किये। संगीतविषयक लेखन, सम्पादन के साथ-साथ अस्सी पर “शारदा संगीत विद्यालय” की स्थापना की जहाँ आज भी संगीत की शिक्षा अनवरत रूप से चल रही है। बाद में काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के* संगीत विभाग की स्थापना के समय महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी ने आप को आमन्त्रित किया और इस विभाग की स्थापना से लेकर जब तक वे उस विभाग में रहे, विभाग की तन-मन से सेवा की और कई रचनाओं का संपादन किया। बाद में स्वतन्त्र रूप से “संगीत-माधुरी” नामक त्रैमासिक संगीत-पत्रिका का संपादन किया। प्रसिद्ध कवियों सूर, तुलसी, कबीर, मोरा आदि के भजनों एवं ध्रुपद, धमार की स्वरलिपियों का एक रचना-संग्रह “शिव संगीत-प्रकाश” पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नियमित चलने वाले गीता प्रवचन के प्रारम्भ में उन दिनों नानाजी उस दिन के कथाप्रसंग के बारे में भजन गाते थे और समापन भी भजनों से ही करते थे। कभी-कभी कथा-सारांश को शास्त्रीय रागों में निबद्ध करके शब्दशः सुना दिया करते थे। वे भजन इतने प्रभावशाली होते थे कि श्रोता भावविभोर होकर कथारस में डूब जाते थे।

काशी में उन दिनों ‘ध्रुपद’ और ‘गायनाचार्य त्रिपाठी जी’ एक दूसरे के पर्याय माने जाते थे। गायन-वादन की अविच्छिन्न साधना के दौरान उन्होंने ध्रुपद के कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग किये। उनके ध्रुपद के शब्द ऋचाओं और पौराणिक आख्यानों से उद्धृत होते थे, और गायन के समय अनुकूल आध्यात्मिक अनुभूति का सर्जन करते थे। ध्रुपद गायकी में आलापचारी के साथ वे लयकारी तथा बोल

* सन् १९५० में जिस ‘सङ्गीत और ललितकला’—विभाग की स्थापना हुई उससे बहुत पूर्व संस्कृत महाविद्यालय में संगीत प्रशिक्षण की जो व्यवस्था आरम्भ हुई थी, उसी का यहाँ प्रसङ्ग है। —सम्पा०

बाँट को अधिकतम और कुशलतापूर्वक प्रस्तुत करते थे। संगीतसाधना को वे ईश्वरीय आराधना का मूल साधन मानते थे। और वस्तुतः उनकी बन्दिशें भक्ति रस से ओत-प्रोत होती थीं। शृङ्गारिक भावों वाली बन्दिशों को भी वे आध्यात्मिक-भाव-प्रधान बनाकर सहजता से प्रस्तुत करते थे। गाते समय उनके मुखमंडल पर अनुपम आभा और तेजोमय शक्ति होती थी। बन्दिशों को गाते समय बन्दिश के शब्दों को सजाकर स्पष्ट शब्दों में कठिन से कठिन तालों को स्वयं हाथ से देकर बोल बाँट और लयकारी का प्रयोग तदनुसार करते थे। प्रायः वे शुद्ध रागों में ही ध्रुपद बन्दिशों को गाया करते थे। पर कभी-कभी दुर्लभ रागों को अभिनव प्रयोगों से सज्जित कर सहज मुद्रा में गाया करते थे। उनकी आवाज मधुर और गम्भीर थी, जिससे वे गायन के समय मीढ़, गमक, 'सूत' आदि को धीरे-धीरे सभी सप्तकों में क्रमशः विस्तृत करते थे। आलाप के लिए वे बहुधा मंद्र और कभी-कभी अतिमन्द्र में संचरण करते हुए तार और अतितार तक जाते थे। जटिल से जटिल लयकारियों को इतने सुगम रूप में प्रस्तुत करते थे कि उसकी कठिनता का जरा भी आभास नहीं होता था। खंडारवाणी की दुर्लभ विद्या का ऐसा अनूठा प्रयोग करते थे कि उनकी तात्कालिक उद्भावनाओं पर श्रोता आश्चर्यचकित हो जाते थे। उनका ध्रुपद-गायन और उसकी शैली आज भी शोध का विषय है, और खंडार वाणी की अमूल्य निधि है। ध्रुपद धमार के विकास के लिए वे बहुत करना चाहते थे, किन्तु ख्याल के प्रचार के कारण उनके कम ही शिष्य उनको शैली का अनुकरण कर पाये। ध्रुपद में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग, उसकी शब्दरचना, सन्धिविच्छेद और भाव के अनुसार उच्चारण उनके गायन की प्रमुख विशेषता थी।

ध्रुपद के गायन के साथ-साथ मृदंगवादन में भी वे निपुण थे। उनके अनेकों शिष्य हैं जो मृदंगवादन में स्थापित हैं। उनके शिष्यों में काशी के संकटमोचन के महन्त पं० अमरनाथ मिश्र जी भी थे, जो नानाजी के साथ प्रतिदिन गाते बजाते और संगत का अभ्यास करते थे। लोग बताते हैं कि उनका संगीत इतना सरस होता था कि ध्रुपद की शास्त्रीयता के साथ-साथ मधुरता भी होती थी। उनके जीवन के कई अलौकिक संस्मरण हैं जो साधना के दौरान हमेशा आते रहे। ईश्वर की आराधना वे संगीत की साधना के माध्यम से करते थे। एक अलौकिक घटना उनके जीवन के अन्तिम क्षण की है। १९६८ में वे अपने गाँव में मकरसंक्रांति की सुबह रोज की तरह अपने दैनिक क्रिया-कलापों के दौरान गंगास्नान, शिवमन्दिर में घंटी बजाकर भजन गाने के बाद अपने मुख्य आराधना-स्थल लक्ष्मीनारायण मन्दिर में विष्णु-सहस्रनाम का पाठ पूरा करके दण्डवत् प्रणाम करते हुए देवलीन होकर मोक्ष को प्राप्त हो गये। यह घटना आज भी ज्यों की त्यों हमारे मानस पटल पर अंकित है, और आज भी प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को जब हम सब मन्दिर का स्थापनादिवस मनाते हैं, और संगीताञ्जलि अर्पित करते हैं, तब उनकी यह स्मृति आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न कर देती है।

उन्होंने अपने जीवनकाल में कई शिष्य तैयार किये जो अपने-अपने क्षेत्रों में स्थापित हैं और संगीत की सेवा एवं साधना में रत हैं। वे घर में हमेशा गुल्कुल जैसा माहौल रखते थे और शिष्यों से पुत्रवत् व्यवहार करते थे। यहाँ तक कि कई शिष्यों को निःशुल्क शिक्षा देने के साथ-साथ भोजन एवं वस्त्र भी देते थे और पुत्रवत् स्नेह देते थे। उनके प्रमुख शिष्यों में पं० चितरंजन ज्योतिषी (सम्प्रति विभागाध्यक्ष गायन विभाग, संगीत संकाय का० हि० वि० वि०), पं० रमाकान्त मिश्र, पं० रमाशंकर मिश्र (ज्ञानपुर), पं० उदयनारायण त्रिपाठी (कलकत्ता) सरीखे अनेकों हैं। स्वयं मैंने भी बचपन में आशीर्वाद-स्वरूप स्वरज्ञान उन्हीं से प्राप्त किया। और आज जो कुछ भी हूँ उन्हीं के आशीर्वाद से हूँ। एक गायक के रूप में ही नहीं, बल्कि एक भक्त, एक शिक्षक, एक सहृदय, उदार एवं दानी गुरु, एक सुकोमल एवं भावुक अभिभावक और एक आदर्श मानव के रूप में वे आज भी अपने शिष्यों, मित्रों एवं परिवारजनों के हृदय में विद्यमान हैं और हमेशा उनका साधनारत स्वरूप हम सबके लिए प्रेरणास्रोत रहा है।

Pt. Shivaprasad Tripathi Gāyanāchārya : The Immortal Musician & Devotee

MANGALA TIWARI

(Editor's Summary)

Late Pt. Shivaprasad Tripathi Gāyanāchārya, whose name was synonymous with Dhrupad was the maternal grandfather of the author of this article. He was born in village Tiwaripur, Distt. Ghazipur, Uttar Pradesh, and had his initial training in music under Pt. Beni Prasad Tripathi and Pt. Ambika Prasad Tripathi of the same village. Later his father Pt. Ram Naresh Tripathi sent him to Calcutta for further training under the guardianship of Sri Gurunarayan Verma, the founder of Bhṛgu Sangitalaya. There his main teacher was Sri Bhṛgu-nath Verma and he was also guided by Pt. Shankar Bhatt, Sri Mohini Babu and Sri Vishwanath Prasad; he learnt Dhrupad, Dhamar and pakhawaj. Later he also developed his own style of playing songs on the harmonium as solo performance, on the basis of the training received by him from Gāyanāchārya Pt. Lakshman Rai of Hyderabad. He also had the opportunity of studying the theory of Indian music under Pt. V. N. Bhatkhande. He became an accomplished musician in not a very long time due to his devotion towards following the directions of his gurus. Later he came to Varanasi and settled here.

The music lovers of Varanasi knew him as Gayanacharyaji. He was very affectionate to his students and music lovers. Later he was invited to the Banaras Hindu University by Pt. Madan Mohan Malaviya-ji. When musical training was started in the Sanskrit Mahavidyalaya, he served as a music teacher in this institution for a long time. He edited some works on music during this period and also edited a quarterly music journal 'Sangeet Madhuri'. He also published a compilation of Dhrupad and Dhamar composition entitled Shiv Sangeet Prakash. He used to begin and conclude with his Bhajan in the regular series of Geeta lectures in the B. H. U.

He was proficient in Layakari and Bolbant which he used to render with great ease, he was also well-versed in pakhawaj and the late Mahant of Sankatamochan Pt. Amarnath Mishra was among his students. His end was nothing less than a miracle, because on the Makar Sankranti day he completed his bath in the Ganga, completed his early morning prayers and worship rituals and after completing recitation of Vishnu Sahasra-nam he prostrated before the deity in the Laxmi Narayan Mandir built by himself and he left his mortal coil in the same position.

वेद एवं पुराणों में ध्रुपदोपजीव्य शब्द— स्तुति एवं कीर्तन

विनायक रामचन्द्र रटाटे

विद्वानों ने वेद को समस्त विद्याओं एवं कलाओं का साक्षात् अथवा परम्परया उपजीव्य माना है। इस दृष्टि से संगीत तथा उसकी एक प्राचीन गानविधा-विशेष ध्रुपद को भी वेद में खोजना अनुचित न होगा। सर्व-विदित है कि संगीत और साम के बीच की कड़ी गान्धर्व थी। वैदिक परम्परा में श्रौत यज्ञ-मण्डपों को जिस प्रकार सामगान, वीणा-दुन्दुभिवादन और नृत्य का प्रयोग-स्थल माना जाता रहा है, उसी प्रकार आगम-परम्परा में मन्दिरों के सभामण्डपों को गीत, वाद्य और नृत्य का मञ्च माना जाता रहा है। हाँ, इसके अतिरिक्त राजा-सामन्तों के यहाँ विविध प्रसंगों पर तथा सामान्य जनों के यहाँ भी विविध उत्सवों पर साम एवं संगीत के आयोजन होते रहे हैं। किन्तु प्रकृत सन्दर्भ में मन्दिरों में देवताओं के समक्ष प्रस्तुत किये जाने वाले संगीत का ही विचार कर्तव्य है, जिस संगीत का गानपक्ष भक्ति और उसके अङ्गविशेष 'कीर्तन' से सम्बद्ध है।

वेद में ज्ञान और कर्म के साथ साङ्ग भक्ति भी वर्णित है। वर्तमान में भी भक्ति और उसके अङ्ग कीर्तन से सभी परिचित हैं। सम्पूर्ण देश के विभिन्न प्रदेशों में कीर्तन के जो विविध सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, उनके प्रवर्तक कोई न कोई ऋषि अवश्य ही रहे हैं। यथा महाराष्ट्र-वासी अपने को नारद परम्परानुयायी मानते हैं। इन ऋषि-सम्प्रदायों में आगे चलकर सन्त-महात्माओं की शाखाएं चल पड़ीं, यथा बङ्गाल में चैतन्य की। जो कुछ भी हो, आज से लगभग ४०-५० वर्ष पूर्व कीर्तन में जो संगीत-पक्ष था उसमें ध्रुपद का ही विशेष प्रभाव था तथा उसके साथ वीणा, तानपुरा, मृदङ्ग-पखावज और झांझ ही प्रयुक्त होते थे। एक अति-प्राचीन श्लोक मिलता है जिसका चित्र ध्रुपद जैसा ही है। यथा :—

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्वः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्त्ताऽर्जुनोऽभूत् ।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयमुकराः कीर्तने ते कुमाराः
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव ॥
ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र भक्त्यादिकानां नटवत् सुतेजसाम् ।
अलौकिकं कीर्तनमेतदीक्ष्य हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत् तत् ॥

(श्रीमद्भा० मा० ६/८६-८७)

[कीर्तन के सामुदायिक देवी 'प्रयोग' में—प्रह्लाद तालधारी हुए (मँजीरे पर ताल दे रहे थे) तरलगति (को सम्हाले हुए संगति में) कांसे का झांझ बजा रहे थे उद्वः; देवर्षि

नारद वीणा बजा रहे थे, स्वर-कुशल होने के नाते अर्जुन राग गा रहे थे। इन्द्र मृदङ्ग बजा रहे थे, चारों कुमार (श्री सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) जय-जयकार कर रहे थे। उसमें सब से आगे भाववक्ता, सरस-रचना-प्रवीण होने के नाते, व्यास-पुत्र श्रीशुक हुए।

इन सब के बीच में भक्ति आदि तीनों (भक्ति-ज्ञान-वैराग्य) जो कलियुग के प्रभाव से मूर्च्छित-प्राय हो गये थे, तेजस्वी होकर नट के सदृश नृत्य करने लगे। यह अलौकिक कीर्तन देखकर हरि प्रसन्न हुए एवं कहने लगे—।]

इस प्रकार 'कीर्तन' में गीत, वाद्य, नृत्य, स्वर (गान, वीणा) ताल, पद और व्याख्यान—इन सभी के समावेश का प्रकृष्ट योग है। आज भी कुछ प्राचीन विविध चित्रों में इसकी झलक मिलती है। कालान्तर में कीर्तनकारों में ज्ञान और शारीरिक क्षमता का ह्रास होता गया; साथ-साथ मर्यादाएं भी कुछ शिथिल होती गयीं। फलतः ध्रुपद के स्थान पर ख्याल आदि विधाओं के पैर जमने लगे और वीणा-मृदङ्ग का स्थान हारमोनियम और तबला ने ग्रहण कर लिया। यह तो हुआ लगभग १००-१५० वर्षों से चल रहे कीर्तन का विवरण। किन्तु प्रश्न यह है कि इस भक्ति के अन्तर्गत कीर्तन का अङ्कुरण, पल्लवन आदि कहाँ और कब हुआ?

साङ्ग भक्ति का मूल तो वेद में ही है, जिसे अनेक ऋषियों ने पल्लवित और पुष्पित किया। उन्होंने इसे वैदिक प्रमाणों से पुष्ट किया और अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे जिनमें शाण्डिल्य और नारद आदि प्रमुख हैं। वैदिक वाङ्मय में संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकोपनिषद् और सूत्रग्रन्थों का क्रम है। तदनुसार उक्त ऋषियों ने सूत्रग्रन्थ रचे। इन सूत्रग्रन्थों पर आगे चल कर स्वतन्त्ररूप से टीकाग्रन्थ भी लिखे गये।

कहा जाता है कि शाण्डिल्य के नाम पर भक्ति-सूत्र तथा संहिता ग्रन्थ के रूप में दो कृतियाँ मिलती हैं जो एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं तथा 'जया संहिता' का कर्ता भिन्न शाण्डिल्य है। जो कुछ भी हो, यह स्वतन्त्र शोध का विषय है। विद्वानों के मत से उपलब्ध शाण्डिल्य भक्तिसूत्र नारदप्रणीत भक्तिसूत्र से प्राचीन और श्रीमद्भगवद्गीता-श्रीमद्भगवत् से अर्वाचीन है। महर्षि शाण्डिल्य का आश्रम लखनऊ-सीतापुर मार्ग पर स्थित 'संडीला' ही है। आज भी इसके आस-पास एक बहुत लम्बा-चौड़ा क्षेत्र है जिसको देखकर लगता है कि यह वही पौराणिक संस्कृति-सभ्यता केन्द्र है, जहाँ कभी तपस्वी सन्त महात्मा भक्तजन एकान्त में रहकर भक्ति-साधना करते थे। नैमिषारण्य^१ हरदोई (हरिद्रोही) भी इसके समीप ही है।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र पर आचार्य रामानुज आदि अनेक अधिकारी विचारकों ने टीकाएँ लिखी हैं किन्तु वर्तमान में नारायण तीर्थ रचित 'भक्तिचन्द्रिका' नामक

१. नवम्बर १९८१ में प्रकाशित 'उत्तर प्रदेश' में मेरा लेख—“वेदोत्तर भारतीय संस्कृति-सभ्यता का केन्द्र—नैमिषारण्य।”

व्याख्या ग्रन्थ ही सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। उक्त नारायणतीर्थ-पाद ने अपनी व्याख्या में ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उपस्थित किये हैं, जिसका अनुकरण उनके बादके विद्वान् संस्कारकौस्तुभकार द्वितीय अनन्तदेव ने किया है। 'भक्तिचन्द्रिका' नामक इस ग्रन्थ का प्रथम भाग १९२४ ई० में म० म० गोपीनाथ कविराजजी ने संशोधन कर प्रकाशित किया तथा द्वितीय भाग पण्डित अनन्त शास्त्री फडके जी ने १९३८ ई० में। प्रस्तुत लेख में एक मात्र इसी ग्रन्थ का किंचिद् आश्रय किया जा रहा है।

वर्तमान में उपलब्ध ध्रुवपद (ध्रुपद) तो साक्षात् रूप से वेद में कथमपि संभव नहीं है। हाँ, नाट्य के (चार तत्त्व) सहित गान्धर्व और संगीत के तीनों तत्त्व, जाति-राग, विविध वाद्य और ताल वाचक शब्द, विभिन्न गान-विधाएँ उनके प्रयोक्ता, आचार्य, परखदार तथा और भी अनेक सम्बद्ध विचार वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध हैं।^१

इस सन्दर्भ में वैदिक स्तुति और ध्रुपद के बीच कीर्तन को सेतु बनाकर इस शोध यात्रा को सुगम किया जा सकता है। क्योंकि कीर्तन से पूर्ववर्ती वैदिक स्तुति-गान और तत्पश्चात् के ध्रुपद गान में बहुत कुछ समानता देखी जा सकती है। यथा—यज्ञ में देवताओं को करुणभाव से सीधे-सादे शब्द और स्वरों से पुकारना, परब्रह्म के नाम-गुणों का उच्चारण कर उसे समर्पित होना, एकमात्र भगवान् को प्रसन्न करने में इस गान-विद्या का प्रयोग करना, उसके लिए प्रयुक्त स्वरों-छन्दों का, गम्भीर होना—इत्यादि बातें वैदिक स्तुति की विशेषताएँ हैं। लगता है ठीक यही बातें कीर्तन भक्ति में भी किञ्चिद् अन्तर से जुड़ गयीं। आगे हरिदास का आदर्श तो सर्वप्रसिद्ध है ही। ध्रुपद में भी मुख्यतः भगवान् के नाम-गुणों का वर्णन होता है। पद के प्रारम्भ के आलाप तो 'हरि अनन्त ॐ' इत्यादि से होते हैं जिसे आगे चलकर कुछ ख्यालियों ने उठा लिया। पुष्टिमार्ग, महाराष्ट्र, बङ्गाल आदि के मन्दिरों में अधिकतर यही विधा प्रचलित थी। लोक-लाज, अहंभाव को छोड़कर मात्र भक्त की मर्यादा में रहते हुए इसका जोर-जोर से गान होता रहा है। इस गान विद्या को भी कीर्तन ही कहते थे। ये कीर्तनकार अपने को राजसी गायक की अपेक्षा भगवान् को समर्पित एक भक्त के रूप में ही स्वीकारते थे, इन्हें कोई संकोच नहीं होता था।

विभिन्न ग्रन्थों के हवालों से भी वेद में स्तुतियों (कीर्तनों) का होना स्वीकार किया जाता रहा है। यथा "काण्वी^२ शाखामधीयानौ वौषगायनकौशिकी।"^३

१. द्र० अप्रैल-जून १९८७ में प्रकाशित 'छायाण्ट', 'उत्तर प्रदेश : 'सागर' 'आज' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं प्रकाशित लेखक के १ दर्जन से अधिक लेख तथा संगीत से सम्बद्ध सहस्रशः वेद-शब्द-सूची जो अप्रकाशित हैं।

२. वेदशाखा-प्रवर्तक कण्व तथा अनेक आचार्यों, संगीतज्ञों का उल्लेख वेद में ही उपलब्ध है। भगवान् कृष्ण काण्वशाखीय थे। द्र० 'वे० मू० रामचन्द्र शास्त्री रटाटे स्मृतिग्रन्थ'। और भी 'संगीत-दर्शन परिचर्चा स्मारिका' पृ० ११४।

प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ ॥ (ज० सं० प० १) ब्रह्मवैवर्तपुराण (८२-४८) के अनुसार राधाविषयक आख्यान कण्वशाखा में होने की सूचना मिलती है। इसी प्रकार भक्ति विषयक अनेक सूचनाएं (शां० आं० ३-४; ३-८) अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं। ये सभी सूचनाएं 'भक्तिचन्द्रिका' के द्वितीय भाग की प्रस्तावना से उद्धृत हैं।

नाट्य शास्त्र (५-२१) में आये 'कीर्तनाद्देवतानां च' का अर्थ आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने 'देवताओं की स्तुति' ही किया है। भक्तिचन्द्रिका (पृ० १८७) में गुणनाम-कीर्तन का अधिकार सभी के लिए प्रतिपादित करने के लिए लिङ्ग-पुराण के उत्तरार्ध के प्राथमिक अध्यायों से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें अनेक वैदिक-पौराणिक ब्रह्मर्षि, राजर्षि और चारों वर्णों के भक्तों के उल्लेख हैं। यथा—

पुरा त्रेतायुगे कश्चित् कौशिको नाम वै द्विजः ।
वासुदेवपरो नित्यं सामगानरतः सदा ॥१.९॥
भोजनासनशय्यासु सदा तद्गतमानसः ।
उदारचरितं विष्णोर्गयिमानः पुनः पुनः ॥१.१०॥
विष्णोः स्थलं समासाद्य हरेः क्षेत्रमनुत्तमम् ।
अगायत हरिं तत्र तालवर्णलयान्वितम् ॥१.११॥
मूर्च्छनास्वरभेदेन श्रुतिभेदेन भेदितम् ।
भक्तियोगं समापन्नो भिक्षामात्रं हि तत्र वै ॥१.१२॥
हरेरन्यमपीन्द्रं वा स्तौति नैव च वक्ष्यति ।
एवमुक्ते तु तच्छिष्यो वासिष्ठो गीतमो हरिः ॥१.२६॥
गानकीर्तिं वयं तस्य शृणुमोज्ञ्यां न च स्तुतिम् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवो रुष्टो गायतामिति चाब्रवीत् ।
स्वभृत्यान्ब्राह्मणा ह्येते कीर्तिं शृण्वन्ति मे यथा ॥१.२९॥
नारायणस्य गीतानां गानं श्रेष्ठं पुनः पुनः ॥२.२॥
अर्चनं गाननृत्याद्यं वाद्योत्सवसमन्वितम् ।
कर्तव्यं विष्णुभक्तैर्हि पुरुषैरनिशं नृप ॥२.५॥

और भी आगे के अध्यायों में गान-वाद्य-नृत्य के पर्याप्त उल्लेख हैं। इन स्तुति-कीर्तिगानों से ध्रुपद का विकास होना स्वाभाविक लगता है। मन्दिरों में जो नृत्य होता था वह भी सामान्य विधाओं से कुछ भिन्न होता था। प्राचीन ग्रन्थों में 'कथक' आचार्य-विशेष का भी उल्लेख मिलता है। इन बातों को यथास्थान सोचा जायेगा।

भक्तिचन्द्रिका (१. २. ९.) के सूत्र "भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः" की व्याख्या में उद्धृत एक मन्त्र कीर्तन को अवैदिक होने से बचाता है। यथा—

तमु स्तोतारः पूर्वं यथा विद ऋतस्य गर्थं जनुषा पिपर्तन ।
 आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमति भजामहे ॥
 (ऋ० १.१५६.२)

इस स्तुतिगान में 'तमु स्तोतारः' से उपक्रम कर 'भजामहे' में उपसंहार किया गया है। इसी प्रकार श्रवण-कीर्तन-स्वीय सर्वस्य भगवदर्पण के विषय में उद्धृत मन्त्र—

यः पूर्णाय वेधसे नवीयसे सुसमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
 यो जातमस्य महतो महि स्रवत् सेदु श्रवोभिर्यज्यं चिदभ्यसत् ॥
 (वही १.१५६.२)

इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्रों की व्याख्या में उद्धृत ये मन्त्र हैं —
 वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशास्यन् ।
 ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षिति सुनिमा चकार ॥
 (ऋ० ७.१००.४)

यहाँ आये 'कीरयः' पद का अर्थ 'कीर्तनशीलाः' किया गया है। इसी प्रकार—

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगाय वृष्णे ।
 य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥
 (ऋ० १.१५४.४)

नारायणतीर्थ तथा सामश्रमी जी ने 'उरुगाय' का अर्थ गायन ही किया है। और भी—

तदस्य प्रियमभि पाथो अस्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
 उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥
 (ऋ० १.१५४.५)

तत्तत्सूत्रों की व्याख्या में उद्धृत इन वैदिक मन्त्रों से लगता है कि प्रकृत विषय परम्परया ही सही, निश्चयेन वेदमूलक ही है।

Stuti and Kīrtana : Two Source words of Dhruṣad in Vedas and Purāṇas

V. R. RATATE

(Editor's Summary)

The Indian tradition accepts Veda to be the source of every science and art. The yajña-maṇḍapa in the Vedic ritual was a 'stage' for *sāmagāna*, playing on instruments like Viṇā and Dundubhi and dance; similarly in the Agamic tradition, the assembly hall of the temple was also the stage of song, instrumental music and dance. The author has attempted to relate the tradition of Dhruṣad with the devotional music performed in temples, known as '*Kīrtana*', a component of Bhakti.

Alongwith *jñāna* and *karma* the Veda also describes Bhakti. Kīrtan is wellknown as a component of Bhakti all over the country and each region of the country has had one great devotee or the other as the originator of *Kīrtana*. In Maharashtra the origin of Kīrtan is ascribed to Nārada. The Kīrtan traditions of the various regions have had some affinity with Dhruṣad. A very famous verse in Śrīmadbhāgavata-Māhātmya (VI. 86, 87) gives a word-picture of *Kīrtana*, which resembles Dhruṣad to some extent. "Prahāda was keeping *tāla* on the cymbals, Uddhava was playing the (big) bronze cymbals, Nārada was playing on the *Viṇā*, Arjuna was singing, Indra played on *mṛdanga*, the four *kumāra*'s (Sanaka, Sanandana, Sanat and Sanātana) were singing 'Jaya Jaya', Śukadeva, the son of Vyāsa was giving a discourse and in the middle danced the triad of *bhakti*, *jñāna* and *vairāgya*. This was the divine assembly of Kīrtana that delighted the Lord".

In course of time the rigours of the tradition of Kīrtana became loose and Veena and Mṛidang were replaced by Harmonium and Tabla in many regions during the last hundred years or so. The author has tried to trace the origin of *Kīrtana* to Vedic and Pauranic sources, mainly Ṛgveda and Liṅga Purāṇa and Dhruṣad has a definite connection with *Kīrtana* either directly or through its predecessor, the *prabandha*.

भारतीय संगीतजगत् का प्रकाशस्तम्भ—ध्रुपद

आदिनाथ उपाध्याय

ध्रुपद-चर्चा के विविध प्रसंग में लक्ष्य-लक्षणमूलक उसके अन्यान्य बिन्दुओं पर विगत वर्षों में विशेषरूप से 'ध्रुपद वार्षिकी' के माध्यम से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिए यहाँ उस विवरण में न जाकर ध्रुपद के अन्तर्भूत कुछ प्रमुख बिन्दुओं का ग्रहण करते हुए यह रेखांकित करने का प्रयास किया गया है कि ध्रुपद अपने संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार संगीतजगत् का प्रकाशस्तम्भ है। ध्रुपद के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य से मेरा आशय है—गीत, वाद्य एवं नृत्य से ध्रुपद की सम्बद्धता; उसकी स्वरतालपदात्मकता; ध्रुपद की प्रबन्धात्मक संरचना तथा उसका शैलीगत स्वरूप। इसके अतिरिक्त ध्रुपद की संपूर्णता के ही परिप्रेक्ष्य में उसकी उस सामग्री का भी ग्रहण किया गया है जो संगीत के लक्षण-ग्रन्थों में प्राप्त होती है क्योंकि उसके बिना यह प्रसंग अपूर्ण ही रह जाता।

ध्रुपद, संगीत की एक संपूर्ण परम्परा

हमारे ग्रन्थों में संगीत को मुख्यतया दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। एक ओर नाट्यशास्त्र में 'गांधर्व' के रूप में परिभाषित करते हुए उसे 'स्वरताल-पदात्मक गांधर्वम्' ऐसा कहा गया है और दूसरी ओर संगीतरत्नाकर में संगीत को 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते' इस रूप में परिभाषित किया गया है। यहाँ मेरा आशय इस सम्बन्ध में कोई शंका उठाना नहीं है और न तो यहाँ उसके लिए कोई गुंजाइश ही है क्योंकि इस तथ्य से हम सभी परिचित हैं कि ये दोनों ही लक्षण दो भिन्न सन्दर्भों में दिये गये हैं*, उस विवरण में न जाकर यहाँ मैं मात्र इतना ही कहना चाहूँगा कि संगीतलक्षण की इन दोनों ही कसौटियों पर ध्रुपद खरा एवं पूर्ण उत्तरता है। स्वर, ताल एवं पद का जितना उन्मुक्त एवं अनूठा समन्वय ध्रुपद में दिखायी देता है उतना संभवतः किसी दूसरी विधा में नहीं है। दूसरी ओर गीत, वाद्य एवं नृत्य से इसकी सम्बद्धता भी अपने आप में अद्वितीय है^१। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन गुणीजनों के बीच ध्रुपद को सर्वश्रेष्ठ शैली का सम्मान^२ प्राप्त होने का यह भी एक प्रमुख कारण रहा होगा।

* पहली परिभाषा नाट्यगत सन्दर्भ में दी गयी है तथा दूसरी संगीत के स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य से जुड़ी है।

१. गीत एवं वाद्य के साथ ध्रुपद की प्रस्तुति से हम परिचित ही हैं। नृत्यसहकृत ध्रुपद के लिए ध्रुपद वार्षिकी के तद्विषयक लेख देखे जा सकते हैं।

२. द्र०—संगीत के धरानों की चर्चा-पृ० 47-48

ध्रुपद में प्राचीन एवं अर्वाचीन का अनुपम संयोग

वस्तुतः ध्रुपद का मूल उत्स ध्रुवागान में निहित बताया जाता है तथा विकास क्रम में इसका सम्बन्ध सालग सूड प्रबन्ध से जुड़ा है। दूसरी ओर विश्लेषण के आधार पर 'गांधर्व-गान' परंपरा में ध्रुपद गान के अन्तर्गत आता है। गांधर्व के सम्बन्ध में उसे अनादि संप्रदाय, नियत रूप से श्रेयस् (अदृष्ट फल) का देने वाला और गंधर्वों द्वारा प्रयुक्त कहा गया है तथा गान का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो वाग्गेयकार द्वारा रचित हो, लक्षणों से युक्त हो, देशीरागादि में बद्ध हो तथा हृदय का रञ्जन करने वाला हो वही गान है। यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि इन लक्षणों के आधार पर आज का हमारा संपूर्ण संगीत एक प्रकार से 'गान' के ही अन्तर्गत आयेगा। और तब, भला ध्रुपद उस परिधि से बाहर कैसे जायेगा? हाँ, ध्रुपद में कुछ ऐसे विशेष तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं जो प्रस्तुत प्रसंग में पृथक् रूप से विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि ध्रुपद गायन, वादन एवं नृत्य तीनों से सम्बद्ध है। किन्तु तथ्य को संक्षेप में स्पष्ट करने के लिए यहाँ ध्रुपद की गायन शैली का ही ग्रहण किया जा रहा है। गायन को महत्त्व देने के पीछे एक औचित्य भी है। ध्रुपद के साथ वादन दो रूपों में होता है, एक तो गायन की संगति के रूप में दूसरा-ध्रुपद की स्वतंत्र अवतारणा के रूप में, किन्तु सामान्य रूप से गायन में प्रतिष्ठित शैली ही वादन में अंग के रूप में ग्रहण कर ली जाती है। दूसरे शब्दों में शैली की दृष्टि से ध्रुपद गायन का ही बिम्ब उसके वादन में होता है; ध्रुपद-नृत्य का उदाहरण इसलिए नहीं लिया जा सकता क्योंकि उसकी बहुत स्पष्ट परम्परा आज हमारे बीच नहीं है। ध्रुपद की गायन प्रस्तुति को मुख्यरूप से चार भागों में बाँटा जा सकता है। (१) नोम्-तोम् में आलाप (२) बन्दिश (पदरचना) की प्रस्तुति (३) लयकारी का काम (४) उपज। वस्तुतः आज हमारा संगीत रंजन-प्रधान हो गया है, किन्तु ध्रुपद के नोम्-तोम् आलाप तथा इसके पदभाग (बन्दिश) में आज भी कुछ ऐसे सनातन तत्त्व निहित हैं जिनके आधार पर इसे अदृष्ट एवं श्रेयस् से जोड़ा जा सकता है।

'नोम्-तोम्' आलाप के मूल में दो धारणायें हैं। एक धारणा के अनुसार इसमें प्रयुक्त निरर्थक वर्णों का संबंध पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त निर्गीतों (निरर्थक वर्णसमूह) से जोड़ा जाता है और वह स्पष्टरूप से गांधर्व के अन्तर्ज्ञात आता है। दूसरी धारणा के अनुसार यह समझा जाता है कि ये निरर्थक वर्णसमूह ओम्, त्वम् अनन्त हरि, हरि ओम् आदि ईश्वर वाचक शब्दों के विकृत रूप हैं, इस रूप में इनका सम्बन्ध प्रबन्ध के 'तेन' अङ्ग से जोड़ा जाता है। ध्रुपद गायकों के बीच आजकल इस दूसरी मान्यता पर अधिक बल दिया जाता है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज हमारे अधिकांश ध्रुपद गायक नोम्-तोम् आलाप में उपर्युक्त ईश्वर-वाची शब्दों का स्पष्टरूप से उच्चार करते हैं। अतः दूसरी धारणा के अनुसार भी

“नोम्-तोम्” आलाप को अदृष्ट से ही जोड़ा जा सकता है। इस प्रसंग में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ध्रुपदगायक कभी-कभी आलाप शैली में ही मंगलाचरण करते हुए ध्रुपद गायन का आरंभ करते हैं जो कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से श्रेयस् एवं अदृष्ट से ही जुड़ा हुआ है।

ध्रुपद के पदभाग में ‘दृष्ट-अदृष्ट’ ये दोनों ही संभावनायें हो सकती हैं। यदि पद अध्यात्म-प्रधान अथवा भक्तिपरक है तो उसे अदृष्ट के अन्तर्ज्ञत एवं अन्यथा स्थितियों में दृष्ट के अन्तर्गत रखना पड़ेगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से इस संभावना को पर्याप्त बल मिलता है कि ध्रुपद में गान्धर्व एवं गान इन दोनों के ही लक्षण विद्यमान हैं। इस रूप में यह आज भी प्राचीन से जुड़ा हुआ है।

वस्तुतः आज यदि ध्रुपद को लक्षणों से युक्त देशीरागादि में बद्ध वाग्गेयकार द्वारा रचित रंजक ‘गीत’, जैसा कि ‘गान’ के लिए कहा गया है, इतना ही मान लें तो भी एक बड़ी सीमा तक इसे प्राचीन से सम्बद्ध किया जा सकता है। ध्रुपद में अन्तर्निहित ऐसे अनेक तथ्य हैं जिनसे इस बात की पुष्टि की जा सकती है। वे हैं—ध्रुपद में राग के शुद्धतम रूप का प्रयोग; प्राचीन परंपरा के ही अनुरूप ‘प्रबन्ध’ के एक अंग ‘तेन’ के ही सदृश ‘नोम्-तोम्’ का उच्चारण; ध्रुपद के स्थायी, अंतरा, संचारी तथा आभोग इन गेय खण्डों की प्रबन्ध की चार धातुओं-उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव एवं आभोग से किसी सीमा तक सम्बद्धता; ध्रुपद के गेय अंश अर्थात् नोम्-तोम् आलाप, बन्दिश, लयकारी एवं उपज को क्रमशः प्राचीन परंपरा के रागालप्ति, गीत, लयवैचिध्य और भंजनी रूपकालप्ति के समकक्ष रखा जा सकता है; ध्रुपद-प्रस्तुति के प्रसंग में ‘त्रिक की अवधारणा-अर्थात् ध्रुपद गायन, वादन, (वीणा) एवं मृदंग का संयोग’ पहले भी आदर्शरूप में स्वीकार किया गया था और किसी न किसी रूप में उसकी वह गरिमा आज भी बनी हुई है; अन्य शैलियों की तुलना में ध्रुपद में पद पक्ष की प्रधानता काव्य एवं संगीत के पारस्परिक सम्बन्धों का एक ज्वलन्त संकेतक है और यह भी हमारी प्राचीन परम्परा के अनुरूप ही है। ध्रुपद के साथ सामान्यतया चौताल का ही प्रयोग होता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे प्राचीन आध्यात्मिक अवधारणा से ही जुड़ा हुआ है; प्राचीन परंपरा की ही आधारशिला पर ध्रुपद के लिए आज भी संस्कृतिनिष्ठ भाषा पर बल दिया जाता है।^१

हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही हर विद्या अथवा कला का चरम लक्ष्य चतुर्वर्ग प्रयोजन की सिद्धि रहा है। इस प्राचीन अवधारणा की अन्विति भी ध्रुपद में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। जिस आध्यात्मिक एवं लौकिक पक्ष का समन्वय ध्रुपद के उद्भव काल में था, लगभग वही स्थिति आज भी बनी हुई है।

१. द्र०—ध्रुपद वार्षिकी १९८८, पृ० ८३-८४।

२. द्र०—ध्रुपद वार्षिकी १९८८, पृ० ७७।

यह तो हम जानते ही हैं कि ध्रुपद-परम्परा के प्रचार-प्रसार का केन्द्रस्थल मन्दिर भी थे तथा राजदरबार भी, और तात्त्विक दृष्टि से आज भी इसकी लोकप्रियता इन्हीं दोनों रूपों में है। एक ओर हमारे देवाल्यों में तो यह परंपरा जीवित है ही, साथ ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक अनुष्ठान के आयोजनों का शुभारंभ आज भी ध्रुपद गायन से ही करने पर बल दिया जाता है, दूसरी ओर संगीत के उन समारोहों में भी ध्रुपद के कार्यक्रम होते हैं जिनका लक्ष्य मूलतः लौकिक होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मूलरूप से ध्रुपद की प्राचीन से सम्बद्धता आज भी बनी हुई है, किन्तु देश-काल एवं जनरुचि भेद से ध्रुपद अपने को अर्वाचीन से पृथक् भी नहीं रख सका है और यह उसके गतिशील होने का ही परिचायक है। अर्वाचीन के प्रभाव में ही ध्रुपद के मूल ढाँचे एवं शैली में परिवर्तन तथा कुछ नियम-शैथिल्य भी हुए हैं। जैसे—वंदिश के स्वरूप का छोटा होकर स्थायी अन्तरे तक संकुचित हो जाना, वादन में स्वतंत्र रूप से (एकल रूप में) ध्रुपद शैली का प्रस्तुतीकरण, प्रस्तुतीकरण को रोचक बनाने की दृष्टि से कुछ नये प्रयोग, ध्रुपद-नृत्य की परंपरा का अलग-थलग पड़ जाना, ध्रुपद की संगति में मृदंग के स्थान पर कभी-कभी तबले से भी काम चला लेने की प्रवृत्ति आदि तथ्य ध्रुपद के अर्वाचीन भाव के ही द्योतक हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है कि ध्रुपद में प्राचीन एवं अर्वाचीन का अनुपम संयोग है।

ध्रुपद, रसाभिव्यक्ति का एक सशक्त प्रेरक स्रोत

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि ध्रुपद गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों से जुड़ा हुआ है, परन्तु यह उसकी एक आदर्श अवस्था है। इस समुच्चयस्वरूपा प्रस्तुति में तो वैसे भी रसाभिव्यक्ति अथवा रससम्प्रेषण की कोई समस्या नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ तो गीत एवं नृत्य अर्थात् श्रव्य एवं दृश्य दोनों एक साथ मिलकर रसानुभूति कराते हैं। इसके अतिरिक्त ध्रुपद-गायन की स्वतंत्र प्रस्तुति के सम्बन्ध में विचार करें तो भी ज्ञात होगा कि पद-पक्ष की प्रधानता के कारण वहाँ भी रस-संप्रेषण की कोई ऐसी समस्या नहीं होती। पद (काव्य) का जो रस होता है, एक प्रकार से वही का वही संगीत के माध्यम से उत्कट होकर सम्प्रेषित हो जाता है। संभवतः ध्रुपद के साथ काव्य के इसी जुड़ाव के कारण यह भी कहा जाता है कि ध्रुपद सभी रसों (शृंगार आदि) में गाया जाता है।^१

यह तो रही नृत्य एवं गीत (गायन) के परिप्रेक्ष्य में रसाभिव्यक्ति की बात, इस प्रसंग में ध्रुपद की शैलीगत चर्चा भी कम रोचक नहीं है। इसका महत्त्व इसलिए भी कुछ विशेष है क्योंकि यह गायन के ही साथ-साथ ध्रुपद अंग के वादन पर भी

लागू होती है। आज जबकि वाद्य के माध्यम से ध्रुपद शैली के वादन की अवतारणा स्वतन्त्र रूप से भी होने लगी है, यह शैलीगत चर्चा कुछ अधिक प्रासंगिक होगी।

यह हम सभी जानते हैं कि संगीत जब किसी बाह्य सन्दर्भ से जुड़े बिना केवल स्वर एवं ताल तक ही सीमित रहता है तो वहाँ सामान्यतया शृंगार-करण जैसे किसी स्पष्ट रस की अनुभूति नहीं हुआ करती। अपितु वह अनुभूति 'दीप्ति, द्रुति एवं प्रसाद' चित्त की इन तीन दशाओं के रूप में होती है; इसी रूप में संवेदन-शील श्रोता रस का ग्रहण करता है। ध्रुपद शैली के प्रस्तुतीकरण में विलम्बित से आरम्भ करके धीरे-धीरे लय बढ़ाते हुए नोम्-तोम् शैली में आलाप की आकर्षक क्रिया धीरे-धीरे चित्त को दीप्ति की ओर ले जाती है और द्रुत जोड़-झाला की पराकाष्ठा के साथ चित्त भी दीप्ति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। तत्पश्चात् विलम्बित मध्यलय में ध्रुपद की वंदिश का आरम्भ होता है और चित्त विश्रान्ति की स्थिति में पहुँचते हुए द्रुति और पुनः क्रमशः प्रसाद जैसी स्थिति का अनुभव करने लगता है।^१

रसोद्रेक में ध्रुपद का लय-वैचित्र्य भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ध्रुपद शैली में प्रयुक्त २/३-३/२; ३/४-४/३; ४/५-५/४; २/७-७/२ तथा ऐसी अनेक जटिल लयकारियाँ, साथ ही उपज के काम एवं चमत्कारपूर्ण तिहाइयाँ रसिक श्रोता को मंत्रमुग्ध कर देती हैं।

रस के इस प्रसंग में ध्रुपद की बानियों की चर्चा भी किंचित् प्रासंगिक होगी। कुछ लोग गौडहार आदि ध्रुपद की चारों बानियों का सम्बन्ध स्वराश्रित शुद्धा आदि गीतियों से जोड़ते हुए इन भिन्न-भिन्न बानियों के भिन्न-भिन्न रस बताते हैं।^२ संभव है ध्रुपद के अन्तर्भूत रस के प्रसंग में चिन्तन की यह भी कोई परंपरा रही हो, किन्तु आज बानियों की अवधारणा एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गयी है और वह पृथक् रूप से चिन्तन का विषय होगा। इसलिए सम्प्रति उस परिप्रेक्ष्य में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

ख़्यालशैली के गायक-वादकों के लिए ध्रुपद एक बड़ा मार्गदर्शक

आज हमारा शास्त्रीय संगीत ख़्यालप्रधान हो गया है और इसमें भी सन्देह नहीं कि अपनी अन्यान्य विशेषताओं के कारण सम्प्रति यह वर्तमान में उत्तर भारतीय संगीत-परंपरा का पर्याय-सा बन गया है। इसमें कोई विवाद नहीं कि हर शैली अथवा विधा अपने विकसित रूप में स्ययं में 'विशिष्ट' होती है और इस प्रकार आज ख़्याल शैली उसी विशिष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त है, किन्तु यह शैली ध्रुपद से जिस प्रकार प्रेरित रही है तथा उद्भव काल से लेकर आजतक ख़्याल जगत्

१. द्र०—विवरणार्थ, भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, २७६।

२. संगीत के घरानों की चर्चा, पृ० ३४।

में ध्रुपद को जो स्थान प्राप्त है उसे देखते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि वह ख्यालशैली के गायक-वादकों के लिए एक बड़ा मार्गदर्शक रहा है और आज भी है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि ख्याल शैली का जन्म ध्रुपद के बाद का है। ध्रुपद का परवर्ती होने के कारण ख्याल का इस शैली से किसी न किसी अंश तक प्रभावित होना तो सहज ही समझा जा सकता है। कुछ लोग तो ध्रुपद से ही ख्याल का जन्म हुआ है, यहाँ तक मानते हैं।^१ संगीत के कुछ अन्य विचारक ध्रुपद से ख्याल की सम्बद्धता इस रूप में प्रकट करते हैं कि ख्याल ध्रुपदशैली की ही भावात्मक एवं कलात्मक प्रतिक्रिया है।^२ ध्रुपद से ख्याल की यह सम्बद्धता तुलना में ख्याल की अपूर्णता के कारण ही संभवतः मानी गई होगी। अभी पिछले एक-दो दशकों तक ख्याल को लंगड़ा ध्रुपद और मुंडा (खण्डित) ध्रुपद की संज्ञा दी जाती रही है^३। इस बात से यह भी आभासित होता है कि ध्रुपद शैली ख्याल की पूर्ववर्ती तो रही है, किन्तु साथ ही ख्याल के आविर्भाव के पूर्व संगीत-जगत् की प्रतिष्ठित एवं मानक शैली भी बन चुकी थी।

आज भी ध्रुपद शैली की जो विशेषताएँ 'लक्ष्य' में परिलक्षित होती हैं उन्हें देखते हुए भी ध्रुपद के उपर्युक्त वैशिष्ट्य की ही झलक मिलती है। स्वर एवं राग की शुद्धता एवं उनका अनुशासित प्रस्तुतीकरण, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण एवं ताल-वैचित्र्य की जो पराकाष्ठा ध्रुपद में आज भी विद्यमान है, वह अनुकरण के ही योग्य है। इस बात के प्रमाण हैं कि ख्याल शैली के गायक-वादक के लिए ध्रुपद शैली का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य समझा जाता रहा है^४। आधुनिक युग के, पिछली पीढ़ी के संगीतकार भी इस बात को जोर देकर कहा करते थे कि ख्याल ध्रुपद की नींव पर खड़ा है और रागस्वरूप तथा रागनियम के लिए ध्रुपद ही प्रमाण है।^५ कई प्रतिष्ठित गायक-वादक तो आज भी अपनी ख्याल शैली का सम्बन्ध ध्रुपद की बानियों से बताते हैं। जैसे—उस्ताद विलायत हुसैन खाँ की राय में उनके ख्याल में नौहारबानी समाविष्ट रही है।^६ आधुनिक युग के अनेक शीर्षस्थ ख्याल शैली के गायक-वादक अपनी ख्याल प्रस्तुति का आधार ध्रुपद को ही मानते थे और उसी के अनुरूप ख्याल शैली की साधना भी करते थे। ऐसे गायकों में उस्ताद अल्लादिया खाँ तथा फैयाज खाँ आदि तथा वादकों में उ० अलाउद्दीन खाँ, हाफिज अली खाँ, आशिक अली खाँ, दबीर खाँ आदि प्रमुख हैं। हम इस तथ्य से भी परिचित हैं कि संगीतो-

१. ध्वनि और संगीत पृ० २८७।

२. संगीत के घरानों की चर्चा पृ० ४९।

३. द्र०—ध्वनि और संगीत, पृ० २८७ तथा 'ध्रुपद : ए स्टडी आफ इट्स ओरिजिन' पुस्तक की भूमिका।

४. द्र०—ध्रुपद वार्षिकी १९८७ पृ० ११-१९।

५. द्र०—वही ६. द्र०—वही पृ० ११

द्वारक विष्णुद्वय एवं संगीतमार्तण्ड पं० ओंकारनाथ नाथ ठाकुर प्रभृति संगीतज्ञ ख्याल के आधारस्तम्भ के रूप में ध्रुपद शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे।

ध्रुपद की ग्रन्थगत सामग्री भी हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान्

संगीत के लक्षणग्रन्थों में ध्रुपद की बहुमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है, जो मुख्यरूप से दो रूपों में उपलब्ध होती है। (१) विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी ध्रुपद की परिभाषाओं अथवा उसके लक्षण के रूप में (१) ध्रुपद की पद-रचनाओं के रूप में जो रागों के प्रसंग में उदाहरण-स्वरूप दी गई हैं।^१

(१) 'ध्रुपदवार्षिकी १९८८' के अंतर्गत ध्रुपद लक्षण के परिप्रेक्ष्य में एक रोचक एवं महत्वपूर्ण चर्चा की गयी है। वहाँ 'ध्रुपद के लक्षण से संबद्ध कुछ वचन' शीर्षक से यह स्पष्ट किया गया है कि ध्रुपद की कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। वस्तुतः पं० भावभट्ट ने ध्रुपद को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। किन्तु उनके द्वारा दिया हुआ ध्रुपद का लक्षण भी कुछ अंग में अपूर्ण ही है। कहना यह है कि किसी भी ग्रन्थकार की परिभाषा के पूर्ण न होने के कारण तथा प्रायः हर परिभाषा में कोई न कोई नया तथ्य जुड़ जाने के कारण ध्रुपदविषयक ये सभी वचन महत्व के हो जाते हैं, क्योंकि इन सभी के संयोजन से अव्याप्ति दोष से रहित ध्रुपद का एक पूर्ण लक्षण बनाया जा सकता है। यह हमारे लक्षण ग्रन्थों का ही परिणाम है कि आज हम ध्रुपद के सम्पूर्ण स्वरूप के बारे में इतना कुछ जान सके हैं। इन लक्षण-ग्रन्थों की इस उपलब्धि के परिणामस्वरूप एक ओर जहाँ हम ध्रुपद की भाषा, तुक, धातु (खण्ड), वर्ण्य विषय, रस, छन्द आदि से परिचित हो चुके हैं, वहीं इनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालने में भी सक्षम हो चुके हैं कि किस युग में ध्रुपद के किस पक्ष पर विशेष बल दिया जाता था अथवा किस युग में ध्रुपद का कौन सा पक्ष कमजोर था।

(२) संगीत-लक्षण-ग्रन्थों में ध्रुपद की पद—रचनाओं के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं, उनसे सर्वप्रथम तो यह ज्ञात हो जाता है कि इन रचनाओं का वास्तविक स्वरूप क्या था, इन ध्रुपद रचनाओं की भाषा, वर्ण्यविषय, रस एवं छन्द योजना आदि क्या थी तथा कालान्तर में उनके स्वरूप में क्या-क्या परिवर्तन होते गये। साथ ही परिवर्तनों के बावजूद इनमें कौन से तत्त्व ऐसे भी थे जो सातत्य के रूप में सदा अपरिवर्तनीय रहे। इन रचनाओं के अवलोकन से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि ध्रुपद के दिये हुए लक्षणों की कसौटी पर ये रचनाएँ कहाँ तक खरी उतरती हैं। ध्रुपदरचनाओं के माध्यम से संगीतशास्त्र के अनेक गूढ़ रहस्यों के

१. द्र०—ध्रुपद वार्षिकी १९८६, भावभट्ट के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया चिन्तन और उसके प्रासंगिक अंश तथा विस्तृत विवरण के लिए शोध प्रबंध—“भावभट्ट के ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन” पृ० २१३-२१४। (अप्रकाशित)

उद्घाटन एवं उनके स्पष्टीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है। ध्रुपदकार और आश्रयदाता के परिप्रेक्ष्य में किया गया इन ध्रुपद रचनाओं का अध्ययन भी बड़े महत्त्व का है। इस आधार पर इन रचनाओं को मुख्य चार वर्गों में बांटा जा सकता है। द्र०—ध्रुपद वार्षिकी १९८७, पृ० ८५-८७, वहाँ यह दर्शाया गया है ऐसी अनेक ध्रुपद रचनाएँ हैं जिनमें आश्रयदाता और ध्रुपदकार की छाप दी हुई है। इससे एक तो यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक ध्रुपदकार का आश्रयदाता कौन था और अदनुसार ही उसका जीवन-काल क्या रहा होगा। रचनाकार के काल-निर्धारण, ध्रुपदकार से जुड़ी उसकी रचनाशैली का ज्ञान तथा उसी के आधार पर युग विशेष की भी रचनाशैली का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार रागों के परिप्रेक्ष्य में किये गये अध्ययन के परिणाम-स्वरूप भी कई महत्वपूर्ण तथ्यों का रहस्योद्घाटन होता है। जैसे—किस राग में सर्वाधिक ध्रुपद रचनाएँ प्राप्त होती हैं, किस राग में कम रचनाएँ प्राप्त हैं तथा कुछ ऐसे भी राग हैं जिनमें ध्रुपद रचनाएँ मिलती ही नहीं। इसके आधार पर राग-विषयक अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों एवं निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। (उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि के लिए द्र०—ध्रुपदवार्षिकी १९८६-१९८९ तक के प्रासंगिक लेख)

वस्तुतः ध्रुपद की परिभाषाओं तथा ध्रुपद की पद-रचनाओं का पृथक्-पृथक् तो महत्त्व है ही, इनके समन्वित विश्लेषण से भी सांगीतिक महत्त्व के अनेक तथ्यों का रहस्योद्घाटन होता है।^१

ध्रुपदरचनाओं के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि ये संगीतिक महत्त्व की तो हैं ही, साथ ही साहित्य, भाषा, इतिहास आदि के अध्ययन में भी इनकी परम उपयोगिता है।

संगीत के शिक्षण में ध्रुपद का अप्रतिम योगदान—

ध्रुपद के उपर्युक्त स्वरूप को देखते हुए सहज ही समझा जा सकता है कि संगीत के पठन-पाठन में भी ध्रुपद कितना सहायक सिद्ध हो सकता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि आज हमारा संगीत ख्याल प्रधान हो गया है और उस परिप्रेक्ष्य में ध्रुपद का क्या महत्त्व है, किन्तु देखा जाय तो ध्रुपद अकेली एक ऐसी परंपरा है जिसके 'संपूर्ण स्वरूप के' द्वारा संगीत की प्रत्येक शाखा का विद्यार्थी अपने को लाभान्वित कर सकता है। संभवतः संगीत का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जो ध्रुपद के त्रिकद्वय अर्थात् (i) गीत वाद्य-नृत्य तथा (ii) स्वर-ताल-पद की समुच्चयात्मक परिधि में न आ जाता हो।

यद्यपि यहाँ अन्यान्य प्रसंगों में ध्रुपद के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला

१. द०—ध्रुपद वार्षिकी १९८६, ध्रुपद लक्षण एवं उदाहरण का ताल-मेल पृ० ८९।

जा चुका है और वे सभी संगीत-शिक्षण में किसी न किसी रूप में लाभदायक हैं, किन्तु उन सभी की चर्चा करना एक प्रकार से पुनरावृत्ति ही होगी। अतः यहाँ उदाहरण-स्वरूप एक-दो बिन्दुओं की ही चर्चा की जा रही है।

ध्रुपद शैली के माध्यम से श्रुतियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रयोग का ज्ञान सरलता से कराया जा सकता है क्योंकि ध्रुपद शैली से जुड़े हमारे बीच आज भी ऐसे कलाकार हैं जो बाईस श्रुतियों से एक पग आगे बढ़कर अर्थात् एक सप्तक में बाईस से भी अधिक श्रुतियों का दिग्दर्शन बड़ी कुशलता एवं सहजता से कर लेते हैं।^१ अपने इसी अभ्यास के आधार पर रागों में प्रयुक्त होने वाले सूक्ष्म श्रुतिभेद के स्वरों का प्रयोग भी वे सरलता एवं सहजता से करते हैं। विद्यार्थी को इन तकनीकों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ध्रुपद गायक-वादकों से मिल सकता है। इसी प्रकार ऐसे अनेक संगीत विषयक तथ्यों का ज्ञान जो गीत-वाद्य-नृत्य अथवा स्वर-ताल-पद से संबंधित हैं, ध्रुपद के माध्यम से भली भाँति कराया जा सकता है। संगीत-शास्त्रीय कुछ गूढ़ रहस्यों का ज्ञान भी ध्रुपद के माध्यम से विद्यार्थियों को कराया जा सकता है। जैसे—ध्रुपद शैली में आरंभ से ही सम्बद्ध गात्र एवं दारवी वीणा के प्रयोग के आधार पर दोनों की ध्वनिगत विशेषताओं की समानता का परिचय तथा उसी क्रम में मोंड, गमक आदि विशेष क्रियाओं सहित शरीर के नाभि आदि स्थानों से ध्वनियों की उत्पत्ति का ज्ञान; ताल एवं छंद की साहित्यिक-सांगीतिक तथा दार्शनिक व्याख्या से परिचय। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, ध्रुपद के प्रसंग में कहीं लक्षण में तो कहीं ध्रुपद की पद-रचनाओं में संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विवेचन प्राप्त होते हैं।

अपनी प्राचीन परंपरा की पहचान तथा विद्यार्थियों में उसके प्रति श्रद्धा का भाव जगाने का कार्य आज हमारी एक बड़ी आवश्यकता है। साथ ही यह कहने की आवश्यकता नहीं की संगीत के विद्यार्थी के लिए इसका महत्त्व कुछ और ही बढ़ जाता है। प्राचीन से सहज सम्बद्धता तथा स्वरूप में अनुशासनबद्धता की अन्विति के कारण इस रूप में भी ध्रुपद की उपयोगिता निर्विवाद है।

उपसंहार रूप में

ध्रुपद को एक संपूर्ण परंपरा के रूप में उसका परिचय देते हुए, उसी क्रम में प्राचीन एवं अर्वाचीन रसाभिव्यक्ति, ख्याल शैली एवं ध्रुपद की ग्रन्थगत सामग्री तथा संगीत शिक्षण एवं ध्रुपद इत्यादि प्रसंगों को ग्रहण करते हुए जो विवेचन प्रस्तुत किया गया, उसे देखते हुए ध्रुपद को संगीत जगत् का प्रकाशस्तम्भ कहना सर्वथा उचित होगा। ध्रुपद अपने सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में किसी न किसी रूप में प्रयोक्ता, श्रोता, विद्यार्थी, शोधार्थी, आदि सभी के लिए महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् है।

सम्पूर्ण एवं अखण्ड की अवधारणा भारतीय चिन्तन-परंपरा का मूल है। कला के सन्दर्भ में भी व्याख्याकारों ने इसी चिन्तन धारा का समर्थन किया है और उस रूप में ध्रुपद को विलक्षण की कोटि में ही रखना पड़ेगा।

सहायक ग्रन्थ-सूची

खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, ले० सुलोचना अजुर्वेदी तथा आचार्य बृहस्पति, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७६।

ध्रुपद और उसका विकास, ले० डॉ० कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, १९७६।

ध्रुपद वार्षिकी १९८६ से १९८९ के सभी अंक, संपादिका प्रो० प्रेमलता शर्मा।

ध्वनि और संगीत, ले० प्रो० ललित किशोर सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, १९७७।

नाट्यशास्त्र २८ वाँ अध्याय (स्वराध्याय)—भरतमुनि प्रणीत, भाष्य एवं टीकाकार आचार्य बृहस्पति, बृहस्पति पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८६

भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, ले० डॉ० सुभद्रा चौधरी, कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, प्रथम संस्करण १९८४।

शोध प्रबंध-‘भावभट्ट के ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन उनके रागवर्गीकरण पर एक विशेष दृष्टि’, शोधकर्ता-आदिनाथ उपाध्याय (अप्रकाशित)।

संगीत के धारानों की चर्चा, ले० डॉ० सुशील कुमार चौबे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (उ० प्र०) द्वितीय संस्करण, १९८४।

संगीत-बोध, ले० डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, तृतीय संस्करण, १९८६।

संगीतरत्नाकर चारों भाग, अड्यार संस्करण।

DHRUPAD : A study of its origin, historical development, structure and present state, Dr. Indurama Srivastava.

Dhrupad : The Beacon of Indian Music

ADINATH UPADHYAYA

(Editor's Summary)

The author has tried to highlight Dhrupad as the beacon of Indian music by reviewing the main points of its comprehensive nature reflected in its direct relationship to song, instruments and dance, the full scope provided to svara, tāla and pada (word), the strength of its structure and stylistic distinction.

He has arranged his observations under the following headings—

1. Dhrupad, a complete or total tradition of music.
2. The blending of the old and the new.
3. Dhrupad, a powerful source or medium of the delineation of Rasa.
4. Dhrupad, a guide for musicians of the Khyal form.
5. The value of written material about Dhrupad.
6. The important place of Dhrupad in music education.

A bibliography is appended to the article.

THE VERBAL CONTENT OF DHRUPAD SONGS FROM THE EARLIEST COLLECTIONS

I. The *Hazar Dhrupad* or *Sahasras*, a collection of 1004 *dhrupads* attributed to Nāyak Bakḥśū¹

FRANCOISE DELVOYE 'NALINI'

A. Introduction

The present paper is the first of a series of studies in the verbal content of Dhrupad songs, selected from some of the earliest collections known today; based on the analysis of song-texts from either unpublished manuscripts or from the available editions of manuscript sources, these papers will be documented with quotations from the relevant Persian texts on music and references to the research-studies already published on the subject.²

As the literature in English on this aspect of vocal art-music is rather scanty, we intend to provide readers not familiar with Hindi nor the vernacular languages used in song-texts, with a more thorough documentation highlighting the literary value of Dhrupad songs.

1. See *Sahasarasa, Nāyak Bakḥśū ke dhrupadoḥ ka saṅgrah*, edited by Prem Lata Sharina, New Delhi, 1972 (abbreviated *Sah*); P. L. Sharma, 'Sahasarasa (a compilation of Dhrupad texts ascribed to Bakḥshoo), Synopsis of a Treatise' in *Indian Music Journal*, vol. VIII-IX-X, Nos 15 to 20, Madras, 1972, '73, '74 : 41-48 (abbreviated *PLS/IMJ*).
2. For a presentation and bibliography on Dhrupad song-texts, see I. Srivastava, *Dhrupada, A Study of its Origin, Historical Development, Structure and Present State*, Delhi, 1980 (abbreviated *SRI*); S. Chaudhari, 'Dhrupad ke 'pad'-pakṣa kā adyatan adhyayan : cune hue kāryoḥ ki samikṣā' in *DA* 86 : 20-33; English summary by the editor : 34-35; F. DELVOYE 'Nalini', 'Sources of Material for Critical Studies in Dhrupad Song-Texts' in *DA* 87 : 33-60; Hindi summary by the editor : 61-70; same author, 'Problems and Prospects of Critical Studies of Lyrical Texts', in S. Chaudhary, ed., *Problems and Areas of Research in Music (Saṅgīta mein anusan-dhān kī samasyāḥ aur kṣetra*, Ajmer, 1988 : 149-180; for bibliographical references, see F. DELVOYE 'Nalini', 'Bibliography on Dhrupad', (I) in *DA* 86 : 95-115; (II) in *DA* 87 : 119-121; (III) in *DA* 88 : 98-102; (IV) in *DA* 89 : 105-107.

The qualities of a good poet-composer (vāggeyakāra) : from Prabandha to Dhrupad

All previous studies in Dhrupad songs did stress the need for further research on the verbal content of those lyrical compositions taken as poetical works; however the analysis of poetico-musical works (*gey pad*) composed in the various genres of art-music which are not poems set to music should always take into consideration the basic aesthetic concept underlying their creation. The qualities required by the poet-composer (*vāggeyakāra*) as exposed in the XIIIth century Sanskrit treatise *Śaṅgītaratnākara* of Śārṅgadeva, were still relevant for the later poet-composers in vernacular languages, like Nāyak Baḥṣū, Tānsen, Nāyak Gopal, Ibrāhim Ādil Shāh, Bāz Bahādur and many others. In its definition (*lakṣaṇa*) of the best *vāggeyakāra*, i. e. 'the one who composes the verbal as well as the tonal-rhythmic structure of the song', Śārṅgadeva writes :

The best *vāggeyakāra* is (possessed) of these excellencies; a thorough knowledge of grammar, proficiency in lexicography, knowledge of prosody (lit. differentiating among the various meters), proficiency in the use of (different) figures of speech, comprehension of aesthetic delight (*rasa*) as related to (different) emotive states of being (*bhāva*), intelligent familiarity with local custom, knowledge of many languages, proficiency in the scientific theories of fine arts, expert knowledge of the three musical arts, a lovely tone-quality, good knowledge of *laya* (tempo), *tāla* (musical time) and *kalā*, discrimination of different intonations, a versatile genius, a beautiful musical rendering, acquaintance with regional (*deśi*) *rāga-s*, cleverness in conversation for victory in debates, freedom from like and dislike, aesthetic sensitivity, a sense of propriety in expression and new melodic forms, knowledge of another's mind, maturity in the understanding of different (varieties of) *prabandha-s*, the ability to compose songs at short notice, the expert knowledge of composing different verbal structures for particular melodic forms, maturity in producing *gamaka-s* (shakes and graces) pervading the three registers, proficiency³ in (the presentation of) different (forms of) *ālāpa* and attention. (3-9)

-
3. See Śārṅgadeva, *Śaṅgītaratnākara*, Chapter III, *Prakīṇakādhyāya* (Miscellaneous Topics) : vv 3-9, text and English translation with comments and notes, in *Śaṅgīta Ratnākara of Śārṅgadeva*, Chapter II-IV, translated by R. K. Shringy, under the supervision of P. L. Sharma, vol. II, new Delhi, 1989 : 146-148.

This definition of a "good master composer" by Śārṅgadeva is worth being fully quoted in the context of Dhrupad songs, as their creators show a great familiarity with this Sanskrit treatise, which they often refer to in their Dhrupad song-texts as "Saptādhyaī", i.e. the 'seven chaptered' one, viz. the *Śaṅgītaratnākara* on the analogy of the *Aṣṭādhyaī* of Pāṇini. As recent studies in the origin of Dhrupad show, this kind of lyrical composition in vernacular languages, mostly *madhyadeśīya*, meant for the Braj language, was very close to some later varieties of the Sanskrit *prabandhas*;⁴ thence the poet-composers of Rājā Mān Singh Tomar's court, who were the first to popularise that new variety of lyrics, were obviously brought up in the musical system prevalent in their time.

The thematic range of Dhrupad songs

In recent studies on the verbal content of Dhrupad, a stress was made on the wide thematic range of song-texts found in early manuscript collections of the 16th and 17th centuries.⁵ This contradicted most of the secondary writings on Indian music of the 20th century and the general opinion about the mainly religious subjects dealt with in Dhrupad songs. Persian writers on Indian music often describe the various song-forms composed in different vernacular languages, which they mostly describe from the textual point of view, with a few remarks on their language, their thought-content and the region and context in which they were sung.⁶ These comments are worth noticing as they indicate the familiarity of the Persian writers with the texts of the Dhrupad songs performed in the Mughal court, which implies a fair knowledge, not only of the local language in which they were composed, but also a good appreciation of Indian literary traditions and the Hindu background underlying most of the lyrical poetry, from the Sanskrit poetry (*kāvya*) closely related to the treatises on rhetorics and figures of speech (*alaṅkāra śāstra*), the Prakrit and Apabhramsa texts belonging to various

4. See SRI : 6-19; M. Lath, 'Dhrupad kā itihās : ek nai dṛṣṭi ka āgrah' in DA 87 : 16-27; English summary : 28-32; *Journal of the Sangeet Research Academy*, vol. IV, N^o 1, April 1983 (Papers of the S.R.A. Seminar 'Prabandha and Dhrupada', Jan. 1983, by various contributors).
5. See SRI : 27-46; F. Delvoye, *op. cit.* DA 87 : 38-39.
6. See a general introduction to Persian sources on Dhrupad in F. Delvoye, *op. cit.* DA 87 : 34-35, for bibliographical references, DA 86 : 103-106; a more systematical cataloguing of the Persian sources on Indian music has been undertaken in collaboration with Shahab Sarmadee.

literary genres, down to the vernacular epic and romance works composed in Northern India from the 13th century onwards.

One of the most controversial aspects of the thought-content of Dhrupad songs and song-texts in general, is its appreciation from either a religious or a secular point of view. All medieval poetry composed in Braj by authors like Keśav-dās (born c. 1555) who was the court-poet of Orcha and later was patronised by Jahāngīr, is reflecting this 'double-entendre'. Hindi court-poets,⁷ and particularly, those employed in the Mughal courts, generally superposed the conventional concept of the literary 'hero' and 'heroine' of the *Nāyaka-Nāyikā-Bheda* trend of Sanskrit literature and 'revival' of Kṛṣṇa and Rādhā, so popular in Braj literature, to the characters of Kṛṣṇa Bhakti in the 16th century.⁸ That kind of poetry could be appreciated at various levels by a wide audience of popular as well as aristocratic background, and it applies to Dhrupad as well, "liked by the mass and admired by the elite", as per Abū'l Fazl's saying.⁹

The understanding of the religious or secular significance of Dhrupad, as well as the appreciation of its own poetical value is left to the audience, according to its religious and cultural background. Imagery, metaphors and similes used in vernacular lyrics and in Dhrupad songs too, are well dipped into Indian culture, including folklore; thence its lasting popularity with the Muslim aristocratic circles of highbrow Persian background, more acquainted to 'the rose and the nightingale' simile than to the cuckoo's (*paṇīhā*) love in separation (*virah*), speaks for itself !

B. *The Hazar Dhrupad or Sahasras, a collection of 1004 dhrupads attributed to Nāyak Bakhṣū.*

Among the earliest collections of Dhrupad songs, the *Hazar Dhrupad* or *Sahasras* attributed to Nāyak Bakhṣū is one of the most authentic sources and a remarkable example of the literary excellence of Dhrupad and of its appreciation by the Muslim rulers of medieval

7. See R. S. McGregor, *Hindi Literature from its Beginning to the Nineteenth Century*, Wiesbaden, 1984 : 126-129 and his bibliography on Keśav-dās.
8. See R. S. McGregor, *op. cit.* : 119-122; S. P. Agravāl, *Akbari dabār ke hindī kavi*, Lucknow, 1950; C. R. Naik, 'Abdu'r Raḥīm Khān-i-Khānān and his Literary Circle', Ahmedabad, 1966.
9. Abū'l Fazl 'Allāmī, *A'in-i Akbari*, ed. 2 vols. by H. Blochmann, (Bibliotheca Indica), Calcutta, 1867-1877; English translation courtesy Shahab Sarmadee.

India. Nāyak Bakhshū to whom the 1004 compositions of the *Sahasras* are ascribed, was a famous musician of the court of Rājā Mān Singh Tomar, king of Gwalior (r. 1486-1516), the first known patron of the Dhrupad genre of vocal music.

The Persian sources on Nāyak Bakhshū.

(1) Abū'l Faḡl's *Ā'in-i Akbari* (1595-1596)

Nothing much is known about Nāyak Bakhshū from contemporary sources, and Abū'l Faḡl seems to be one of the first Persian writers mentioning his name, in the chapter on music of his *Ā'in-i Akbarī*, "The Institutes of Akbar" (1595-1596).¹⁰ Among the *Desī* kinds of songs, (i. e. of a particular region) Abū'l Faḡl mentioned "Dhurpad, the great song-form (*naghma-i buzurg*) of the capital-town of Agra, Gwāliyar, Bārī and their immediate neighbourhood. When Mān Singh Rājā of Gwāliyar ruled, such marvels of the Universe as Nāyak Bakhshū, Machchū and Bhinnū were there to assist him, and make this song-type, this style of singing liked by the masses and admired by the elite"¹¹ Abū'l Faḡl added that on Rājā Mān Singh Tomar's death, "Bakhshū and Macchu passed into the service of Sulṭān Maḥmud of Gujarāt, where this new style came into universal favour."¹² Then Abū'l Faḡl would describe Dhrupad, without any further mention of Nāyak Bakhshū.

Afterwards, it seems there was no record in Persian about Nāyak Bakhshū, till the time the *dhrupads* attributed to him were compiled under the orders of the Mughal Emperor Shāh Jahān (r. 1627-1658). Contemporary Persian sources on Shāh Jahān mentioned many good Dhrupad composers and singers of his court, like L'al Khān Kalāvānt who was bestowed the title of 'Gun Samundar', "Ocean of Proficiency" by the Emperor (1637), which his son Khuś Hāl Khān inherited in 1654. Among Shāh Jahān's court musicians, there were also some Ṣūfī Shaikhs.¹³

10. *Idem*; English translation, vol. III by H. S. Jarrett, Calcutta, 1893-96; 3rd ed, New Delhi, 1978; chapter on Music : 260-273.

11. English translation courtesy Shahab Sarmadee.

12. English translation by H. S. Jarrett, *op. cit.* : 266.

13. For bibliographical references to the royal patronage to music, see F. Delvoye, *op. cit.* DA 87 : note 7 p 53; more relevant to Shāh Jahān's time, see A. Halim, 'Music and musicians of the court of Shāh Jahān' in *Islamic Culture*, XIX (4), Oct. 1945 : 354-360 and Dh. Bhanu, 'Promotion of music by the Turco-Afghan rulers of India', in *Islamic Culture*, XIX, Jan. 1955 : 9-31.

(2) ‘Abd al-Ḥamīd Lāhaurī’s *Pādshāh Nāma* (1627-1647)

One of the most important Persian texts attesting Shāh Jahān’s knowledge and appreciation of vocal music is the *Pādshāh Nāma*, (the History of the Emperor, i.e. Shāh Jahān), written from 1629 to 1650; ‘Abd al-Ḥamīd Lāhaurī wrote the first two volumes, covering the years 1627 to 1647.¹⁴ This text, commissioned by the Emperor himself, is important for the history of Indian music; its writer mentioned a number of musicians and poet-composers, starting with Amīr Khusrau. The passage on Dhrupad and Nāyak Bakḥṣū is worth being quoted here, in Shāhab Sarmadee’s English translation :

“Afterwards (i.e. after Amīr Khusrau) Rājā Mān Tomar, who held the fort of Gwalior, had a thorough knowledge of all the subtleties and intricacies of *Hindustānī rāgas* and compositions. He brought about a new form, with a new meaning, in the language of Gwalior; so that it may be commonly and popularly practised by all.

“A form of this composition in which the praises of Kishun (i.e. Krishna), a Hindu god, are sung, or in which other gods or the people in authority are praised, or of which the theme happens to be the passion of love, came to be known as *Bishunpad*.

“Likewise, there have been such forms as *Stuti* and Dhrupad.

“Dhrupad has been (to a large extent) the creation of Nāyak Bakḥṣū the protégé of Rājā Mān. The said Nāyak perfected this musical form through his compositions (*taṣnīfāt*), adorned with colourful thoughts, fluent expression, newly designed melodies and delicious innovations. His renown spread far and wide. The reach of his voice was such that hardly could any of living exponents of this art stand up to him. Even if two best practised voices tried in unison, they could not compete with him; certainly the Nāyak’s voice was self-sufficient in every way. It happened to be so powerful that even the highest possible note, called *tīp* in *Hindustānī*, was within his easy reach.

“He used to perform these flourishes in a way that the most exacting musicologists of the time burst out in applause and were touched beyond words..... (Sometimes) he played on *pakhāwaj* as he sang. And in *Ālāp* which forms the prelude to a Dhrupad performance, he was un-excelled.”

14. ‘Abd al-Ḥamīd, Lāhaurī, *Pādshāh Nāma*, ed. Maulavis Kabīr al-dīn Aḥmad and ‘Abd al-Rahīm, 2 vols (Bibliothica Indica), Calcutta, 1866-72.

"After Rājā Mān's demise, he remained for sometimes with his son Bikarmājīt, but when the fort of Gwalior fell off from his possessions, the Nāyak went to Rājā Kīrat, the ruler of Kālīñjar. There he lived for some time in peace. Eventually Sultān Bahādur Gujrātī, on hearing of the rare talents of Nāyak Bakhṣū, wrote to Rājā Kīrat requesting him to persuade the Nāyak to come and join his court. The Rājā could not but accede to this request.

"Nāyak Bakhṣū, thus went to Gujarāt. On his arrival there Sultān Bahādur was pleased to bestow all honours on him. The said Nāyak lived on with the Sultān till the end of his life...." (i.e. 1537).¹⁵

Then Lāhaurī gave some informations on Tānsen Kalāvānt of Gwalior and concluded saying that "today every musical performer of Hindostān has to rely on compositions of Nāyak Bakhṣū and Tānsen."¹⁶

- (3) The anonymous Preface of the *Hazar Dhrupad* or *Sahasras* (mid-17th c.)

Another important contemporary source on Nāyak Bakhṣū is the Persian preface (*dibāca*) introducing his collection of *dhrupads*.¹⁷ Its author is not known, but he seemed to be much acquainted with the science of music and the circumstances for searching and researching Nāyak Bakhṣū's compositions, which he exposed when starting his preface. Regarding the *dhrupads* themselves, he wrote, in Shahab Sarmadee's English translation :

"Keeping in view the fluency of his (i.e. Bakhṣū's) language and his choice of words, with their sonorous excellence, together with his adherence to the rules of this art, as well as his observance of the exclusive virtues which the art of music does possess and which distinguishes it from all other finer arts, all this appealed to Shāh Jahān's keen insight. He selected the works of Nāyak Bakhṣū out of all other composers of Hindustān, in particular those who had affiliated themselves with the Mughal court; besides

15. English translation courtesy Shahab Sarmadee, from the edition quoted in note 14.

16. *Idem*.

17. See the devanāgarī transcription and a Hindi translation of the anonymous Persian preface in *Sah* : 3-13; the Persian text of the preface was made available to me by Shahab Sarmadee.

these, all other musicians who lived anywhere else during the Mughal empire also came under perview...

"Therefore, the imperial order was issued to the effect that whenever any noted Dhrupad maestro may be found having any knowledge about the composition of Nāyak Bakḥṣū, he should be made to appear before the special executives of the regular department created by Shāh Jahān for the purpose. The orders runned that, on this basis, a research is to be conducted to ascertain if the *dhrupads* so collected really were authored by the great Nāyak and whenever any *dhrupad* is so collected, it should be copied word to word and certified to that effect."

"Within a period of two years, two thousand *dhrupads* came to be researched out and recorded; out of these one thousand *dhrupads* set in four *rāgas* and forty-six *rāgiṇīs* were held to be the best, the more beautiful and later on, copied in this volume, under imperial orders.

"Certainly it was a very difficult task to decide about the genuineness of the *dhrupads* because of lapse of time; moreover, people who have personally known about the Nāyak and his compositions, have heard him face to face, are no more to be found. Therefore, the possibility exists that some of them may not be really his own compositions. Besides this, it is known that the great Nāyak had several compositions in other *rāgas* also, but since these *rāgas* are seldom to be heard now, therefore, these *dhrupads* pertaining to such *rāgas* had been dropped. On the all, those *dhrupads* which have been ever known or practised as Nāyak Bakḥṣū's own compositions and about which the knowledgeable elite of the present time or the real connoisseurs of art were forthcoming to certify, came under selection."¹⁸

These comments show a remarkable awareness of the problem of the authorship of compositions transmitted by oral tradition, and the care for authenticity expressed by the anonymous author of this preface, a forerunner of today's scholars working on critical editions of song-texts.

The author of the preface proceeded with some important remarks on the qualifications of a perfect master-composer, which require a more musicological analysis, beyond the scope of this paper. He also described some special qualities of Bakḥṣū's voice, and the importance of Gwalior and Rājā Mān for the art of music and added a line on

18. English translation courtesy Shahab Sarmadee.

Dhrupad compositions, being of four verses (*miṣṭra*^c), like the Persian *rubāʿī*, but of irregular length. Following some biographical details quite similar to those contained in the *Pādshāh Nāma*, he revealed that Nāyak Bakhshū originally composed for Rājā Mān of Gwalior, his son, Rājā Kīrat of Kālīnjar and Sulṭān Bahādur; these *dhrupads* were sung in Shāh Jahān's court and the name of the Emperor was inserted in place of the genuine patrons' names, "in order to glorify the compositions and bring credit to the name of the composer and those of his forefathers."¹⁹ Then a short account of Tānsen and L'al Khān 'Gun-samundar' is given followed by an explanation of the name 'Sahasras', 'the thousand delights', bestowed to this collection of thousand *dhrupads* composed by Nāyak Bakhshū, made to arouse gladness and delight. The last part of the preface is a list of the four *rāgas* and forty-six *rāgiṇīs* in which the *dhrupads* are composed, with the names of all the modes and the number of songs given in each one.

(4) Nawāb Saif Khān 'Faqirullāh' 's *Rāg Darpan* (1666)

The next important Persian text on Nāyak Bakhshū, is the *Rāg Darpan*, or "Mirror of Rāgas", composed in 1666 by Nawāb Saif Khān 'Faqirullāh', governor of Kashmir during Aurangzeb's reign (r. 1658-1701)²⁰ This text presents a commented Persian translation of the *Mān Kutūhal*, a work in *madhyadeśīya* language, which Rājā Mān Singh Tomar, king of Gwalior (1480-1516) commissioned, probably at the beginning of the 16th century, on the music played by expert musicians

19. See SRI : 129.

20. Nawāb Saif Khān 'Faqirullāh', *Rāga Darpana*, ed. N. H. Anṣārī and Sh Shukla with the *Ṣaut al-Nāgaus* of Muḥammad Osmān Qais, *Persian Research Journal Special Number*, Deptt. of Persian, University of Delhi, 1981 : 11-86, followed by various lists of Sanskrit and Hindi equivalents in Roman transcription of musical terms, titles of books, personal and geographical names : 89-109.

The critical edition and English translation of Faqirullāh's *Rāg Darpan* is under preparation by Shahab Sarmadee (to be published by the Indira Gandhi National Centre for the Arts as one of the *Kalāmūlāśāstra* on music). See Sh. Sarmadee, *Mankutūhal* and *Rāg Darpan*, Reflections of a great 17th century Scholar-Musician, in *ISTAR News-letter*, Nos 3-4, New Delhi, June 1984-1985 : 18-26; Hindī translation by H. N. Dvivedi, *Mānsingh aur Mūnakūtūhala*, Gwalior, 1954, reprint 1956; see also N. P. AHMAD, *Hindustani Music, A Study of its Development in 17th 8th centuries*, New Delhi, 1984 : 19-33.

who happened to gather at his court; except for a small portion, preserved in a Bikaner library, the text is lost today, thence the value of its Persian translation by a learned musicologist and patron of musicians like 'Faqirullāh'. The Persian translation (*tarjuma*) of the *Mān Kutūhal* constitutes the first part of the *Rāg Darpan*, the rest being an essay (*risāla*), reconstructing the music of India, from Amīr Khusrau's time, till the end of the 17th century, with many first hand informations collected from the author's court musicians, who were the descendants of the musicians of Akbar's time.

Nāyak Bakhshū is first mentioned in the introductory chapter, as one of the poet-musicians with whom Rājā Mān Singh Tomar discussed the intricacies of the art of music and its aesthetic excellences.²¹ In the second chapter, which contains the end of *Mān Kutūhal* and the beginning of Faqirullāh's treatise, Nāyak Bakhshū is mentioned for "three definitely important innovations to his credit : he mixed Ṭoḍī with Deskār and named it as Bahādurī (Ṭoḍī) after Sulṭān Bahādur Gujarāti's name; besides this, he created Kānhṛā by letting Sayām and Khambāichī mingle with each other; another creation of his has been a Kalyān based on Hamīr, Kalyān and Jayt-Kalyān. This Kalyān, like Kānhṛā is directly associated with him and called Nāyakī-Kalyān.²² After describing Tansen's combinations of *rāgas*, Faqirullāh wondered about the creator of Pūriyā-Dhanāsiri; (it) "has also been the creation of one of the *ustāds* and *nāyaks*; which *ustād* or *nāyak*, this is not known? It is however known that Nāyak Bakhshū, Miyān Tansen and Bāz Bahādur have been matchless among the composers and innovators of the age."²³

Nāyak Bakhshū is again mentioned in the fourth chapter, about tones and song-forms; Faqirullāh describes Dhrupad as the first of the *desī* song-forms : "an invention brought about by Rājā Mān Gwāliyarī. It comprises four song-parts and is equally open to the nine *rasas*. Verily the Rājā formulated this darling of the populace and the elite, alike, with the co-ordination of Nāyak Bakhshū and Nāyak Bhinnū, together with Maḥmūd, Karan and Lohaṅk. Moreover they gave it a finish and imparted to it an appeal which surpassed that of the prevailing song-forms."²⁴

The lengthy description of Dhrupad given in the *Rāg Darpan* is worth a thorough analysis which is beyond the scope of the present

21. See N. H. Anṣārī and Sh. Shukla's *ed. cit.* : 12.

22. *Ed. cit.* : 25; English translation : courtesy Shahab Sarmadee.

23. *Idem.*

24. *Ed. cit.* : 34; English translation : *idem.*

paper However, Faqirullāh's remark about the language in which *dhrupads* are composed and which he called *desī* or *desvālī* (the language of the Sudeś, geographical limits of which he also gave), is worth being quoted in the context of Nāyak Bakhshū's *dhrupads* : "the *desvālī* language is the most elegant and the most correct (*afṣāḥ*) in all Hind, just like the [Persian] language spoken in Shīrāz, the national city of Iran."²⁵ Faqirullāh had most probably in mind the compositions of Nāyak Bakhshū, when he wrote about the language of Dhrupad. What a praise for a vernacular language—not yet known as "Braj Bhāṣā"—from a noble scholar of a highbrow Persian cultural background like Faqirullāh !

The last reference to Nāyak Bakhshū in the *Rāg Darpan* is more relevant to the thought-content of Dhrupad. In the Fifth chapter on musical instruments and *Nāyak-nāyikā-sakhī*, the literary trend of classifying "heros" and "heroines" according to various types of lovers and love-situations, Faqirullāh has given one composition by Nāyak Bakhshū to illustrate the *khaṇḍitā nāyikā*, whose lover is unfaithful. It is the only lyrical text in vernacular language (*desvālī* in Faqirullāh's parlance) given in the all *Rāg Darpan*, in which Faqirullāh quoted quite a few Persian poetical verses. The *dhrupad* text, set in *Rāg* "Sūho", is transliterated in Persian script; in two verses (*miṣra*^c) only, it describes the unfaithful lover coming back to the *nāyikā* early morning, "his face all 'painted' in the colours of love; she escorted him to the palace and handed him a mirror; when the beloved discovered the (betraying) signs, he felt ashamed; she then turned her face all smiles".²⁶ To my knowledge this composition is not included in the *Hazar Dhrupad* or *Sahasras* collection, as to give credit to the author of its preface, aware of the extant compositions of Nāyak Bakhshū which were not included in the *Sahasras* anthology !

Nāyak Bakhshū's *dhrupad* quoted by Faqirullāh in his *Rāg-Darpan*, to illustrate the *Khaṇḍitā nāyikā*. [Chap V] My devanāgarī 'reconstruction' from Prof. Sarmadee's Persian copy.

राग सूहो
अरुन उदय नेह रंग मली/मलें
आवत देख प्यारी आदर कर दरपन
महल मंन/मन ले आई ।
जब ही प्यारो निझ चीन चीन सकुची/सकुचई
तब मुख मोर मूसकाई ।

25. *Ed. cit.* : 35; English translation : *idem*.

26. *Ed. cit.* : Paraphrase of the English poetical rendering : *idem*.

Later Persian and Urdu texts on music mentioned Nāyak Bakhshū, but somehow repeating the previous literature which remains the most authentic source, on his biography, his musical compositions and his popularity in the Mughal court.

* *The manuscripts of Hazar Dhrupad and their critical edition.*

The *Hazar Dhrupad* or *Sahasras* collection is preserved in three known manuscripts; its critical edition published by Prem Lata Sharma is based on two manuscripts dated 1656 (India Office Library, London) and 1667 (Bodleian Library, Oxford) respectively.²⁷ P. L. Sharma has done the *devanāgarī* transcription of the 1004 *dhrupads*, originally written in the Arabo-Persian script.

In her Hindi introduction the editor expounds the context and the thought-content of the anthology, with a *devanāgarī* transcription and a Hindi translation of the Preface; nearly hundred pages of the book are devoted to detailed lists of all the compositions with their serial number, *rāgā*-wise, and otherwise, their *rāga* and *tāla*, the beginning of their first verse, the name of the hero (*nāyaka*) or patron, or the "signature" of the poet (*chāp*), the eventual initials written on top of Shāh Jahān's name, indicating the name of the original patron to whom the *dhrupad* was addressed; then the list provides the number of verses (from two to four), the indication of the character who "speaks" and to whom, for instance, the heroine (*nāyikā*) addresses the hero (*nāyaka*) or her confidant (*sakhī*), then the main topic and its possible belonging to the *Nāyaka-nāyikā-bheda* pattern (with the mention of the types of lovers or love-situations), ending with some remarks on rare textual corruptions, or on striking points like the name of some courtesans or the references to some philosophical or technical ancient systems. The compositions are classified *rāga*-wise; reading variants are given with some equivalents of difficult words, along with the initials indicating the identity of Nāyak Bakhshū's real patrons, Mān Singh Tomar, Rājā Kīrat, Bahādur Shāh of Gujarāt, etc., extremely important for studying the thematic range of *dhrupads* composed in various contexts and for either Hindu or Muslims patrons. A technical glossary and notes on the particular use of some specific terms conclude the research-study.²⁸

27. See *supra* note 1 : *Sah* : [186] [137].

28. This lengthy review of *Sah* intends to provide non-Hindi readers with some information which is now here else available, see also SRI : 128-130 and *passim*.

* *Bhāvabhaṭṭa's definition of dhruṣapada and the Hazar Dhruṣad of Nāyak Bakhṣū*

The only definition (*lakṣaṇa*) of Dhruṣad available in Sanskrit texts on the theory of music, was given by Bhāvabhaṭṭa, at the end of the 17th century.²⁹ The most important one, from the *Anūpa Saṅgīta Ratnākara*, well applies to the *dhruṣads* collected in the *Sahasras*. Their language is *madhyadeśīya*, the language of the "Middle Country", par excellence, as Nāyak Bakhṣū started his musical career in Gwalior, the centre of the Madhyadeś or Sudeś; his compositions have four rhyming verses; based on the "affairs" of men and women, they are decorated with *śṛṅgārā rasa* and its *bhāva* (i. e. they are erotic in their aesthetic suggestion). Their melodic and literary structure is also fitting Bhāvabhaṭṭa's description of the perfect Dhruṣad (*uttama dhruṣapada*).³⁰

*The thought-content of Hazar Dhruṣad, perfectly entitled Sahasras, or "the thousand delights"*³¹

The name *Sahasras* suits well the anthology of 1004 *dhruṣads* of Nāyak Bakhṣū, which actually brings aesthetic enjoyment to its reader, in spite of its missing original music setting. An atmosphere of refined culture and artistic sensibility pervades the whole collection which, enhanced by a sophisticated musical rendering, did fascinate the emperor Shāh Jahān, a connoisseur par excellence!

The main character of the *Sahasras* is the *Nartakī* or *Gaṇikā*, the highly cultured courtesan, "whose life is exclusively concerned with song, dance and 'love' intrigues."³² In her synopsis on *Sahasras*, which she critically edited, Prem Lata Sharma describes the *Nartakī* : (she) "is called '*Pātara*' in '*Saṅgīta Ratnākara*' and that name has acquired the form '*Pātara*' or '*Pātura*' in our text. She is solely concerned with *Guṇa*, proficiency in art, *Vidyā* : intellectual comprehension of the art, and *Kāma-kalā* ; art of love. Competition, envy, intrigue, jealousy, etc. centre round *Guṇa*, proficiency in songs, instruments and dance. Our *Pātara* represents the *Gaṇikā* of *Kāmasūtra*, who was the embodiment of culture, art, refinement, polish and beauty. These songs provide sufficient material for a real peep into the life of the *Pātara* and through that into contemporary social set up."³³ Along with cultivated pro-

29. See A. N. Upadhāy, 'Bhāvabhaṭṭa ke granth aur un mein dhruṣapada', in *DA* 86 : 69-92; English summary 'The works of Bhāvabhaṭṭa and the treatment of Dhruṣad therein' : 88-94.

30. See A. N. Upadhāy, *op. cit.* : 77-78; P. L. Sharma's English translation in F. Delvoye's *op. cit.* *DA* 87 : 36-37.

31. See *Sah* : [125]-[132]; *PLS/IMJ* : 47-48.

32. See *PLS/IMJ* : 47.

33. *Idem.*

iciency (*guṇa*), natural beauty (*rūpa*) is essential to the *pātara*, plus youth (*yauvana*) and cleverness (*cāturī*).

In other types of compositions, the heroine is not a courtesan, but a *nāyikā*, according to the literary tradition of the *Nāyaka-nāyikā-bheda* of Sanskrit and vernacular poetry, which deals with various types of lovers in particular love-situations. The *Nāyaka-nāyikā-bheda* describes many categories of “women in love”, represented in *Sahasras*, the main type being the *khaṇḍitā nāyikā*, a heroine, whose unfaithful lover, “bearing marks of his union with another woman on his person, stands before her”,³⁴ “amorous sulking” (*mān*) and the confidant’s (*sakhī*) efforts to preclude it, inspires a number of compositions as well.

Important features of the hero’s (*nāyaka*) personality are making him close to the *nāgaraka* of the *Kāmasutra* : “The *Nāyaka* of these songs is described only as a connoisseur of music and dance, as an expert and *Parama-guru* of *Saṅgīta*, the patron of the training-centres of music, an unquestionable authority on music, an unimpeachable judge of the worth of musicians and as a perfect *Rasika*. The *Rasika* has never been described as a statesman or warrior. The uniformity about the description of the *Nāyaka* is remarkable.”³⁵

In many compositions of the *Sahasras*, the musical proficiency of the heroine (*pātara* or *nāyikā*) is constantly challenged, which is an unusual theme in the traditional *Nāyaka-nāyikā-bheda* poetry. Music and dance which infuse the life of the heroine are explicitly treated in a number of *dhrupads*; the most striking points of this particular topic have been exposed by P. L. Sharma in the Hindī introduction to her edition of *Sahasras*, and in English synopsis.³⁶

A thorough study in the musical elements of *Sahasras*, has also been presented in a Hindī paper on the musical terms found in Dhrupad texts, illustrated with eighty-five relevant song-texts.³⁷ All these references to the art of music and dance add to the documentary value of the collection, as an authentic source on these arts, if not at the period of *Nāyak Bakhṣū* (early 16th century), at least at time of its compilation (before mid-17th). Besides the technical terminology, the precise

34. See R. Gupta, *Studies in Nāyaka-Nāyikā-Bheda*, Aligarh, 1967 : 338

35. See PLS/IMJ : 48.

36. *Sah* : [131]-[132] and Appendix I, ‘Technical Glossary’ : 261-286; PLS/IMJ : 47-48.

37. See P. L. Sharma. ‘Dhrupad ke padon mein saṅgīt ki pāribhāṣik śabdāvalī’, in *DA* 88 : 15-47; English translation : ‘Musical Terms in Dhrupad Texts’ : 48-51; about *Sahasras* : 24-40 and 50-51.

references to *Saṅgīta Ratnākara*, often called *Saptādhyaī*, 'the seven chaptered', and even to earlier musicological texts, testify to the familiarity of Dhrupad composers with their basic concepts. Some compositions expose innovations and introduce a number of *deśī* terms, from the oral tradition (*sampradāy*), some of which are still used today; their comparative study will bring a new light on the history of musical practice, technicalities of which are not recorded in Sanskrit theoretical treatises. There are also clear indications of lady singers of Dhrupad, whom the male connoisseurs (*guṇī*) used to applaud, by saying "*āpā, āpā!*", contradicting the common assertion that Dhrupad is a male genre of vocal music (*mardānā gānā*). Evidences of Dhrupad singing accompanying dance (*nṛtya*), corroborating Bhāvabhatta's definition of that particular type of *dhrupads* sung with dance, are also worth noticing.³⁸

Conclusion

The present paper intended to expound the main inspiration of the collection of Nāyak Bakhṣū's *dhrupads*; it provides one more example of the fact that Dhrupad is not only of religious, heroic or mainly 'serious' concern.³⁹

38. See A. N. Upadhyāy, *op. cit.* : 78 and *passim*.

39. There is a general consensus about the religious characters of Dhrupad today; authentic historical sources of 16th century onwards and *dhrupads* from early collections fairly contradict this idea. There is possibly a confusion between Dhrupad and Viṣṇupad, which were presented by all Persian writers on Indian music as two different song-types; this is corroborated by the Vaiṣṇava hagiographical literature in Braj language (of the *vārtā* type) which is rich in musical references, but to my knowledge never mentioned any *dhrupad* sung to the various deities, but *biṣṇupad* instead. Data are being collected from all historical and literary sources available, which may throw a new light on this very controversial question. I personally doubt about many other compositions of Nāyak Bakhṣū, of a more religious inspiration not chosen in the *Sahasras*, the selection of which would have been "with a definite attitude showing a clearly mundane taste", as written by Maria Maurizia Constanzo (in 'Dhrupad and Caryāgīti : some considerations on the rituality of Dhrupad', DA 89 : 71-74; quotation from p. 72); the motivation of Shāh Jahān's selection is quite clear, but the "deviation from what, looking back at the origins, seemed to be the religious and ritualistic purpose of the

The highly poetical value of Nāyak Bakhshū's compositions, infused with love and artistic proficiency, fully justifies the choice of Shāh Jahān for ordering the compilation of their scattered song-texts, more than hundred years after their creation. It also confirms Shāh Jahān's knowledge of the vernacular language of Northern India, his interest in Indian music, both facts corroborated by Persian texts like 'Abd al-Hamīd Lāhaurī's *Pādshāh Nāmā*—and his familiarity with the Indian traditional motifs of love-poetry and musical terminology. The Mughal Emperor was probably sharing a strong identity feeling with the perfect Nāyak, refined connoisseur and perfect art-patron, described in the *Sahasras*.⁴⁰

music performance..." seems to me a rather subjective appreciation. All textual material on the origin of Dhrupad and Dhrupad song-texts is yet to be collected and collated; all information is welcome !

40. For some poetical illustration of the present paper, see eight compositions selected from the *Sahasras* and translated in English by I Srivastava *op. cit.* 37-40.

Note on the Transliteration

As a convention, throughout the present paper, Dhruṣṭa designates that specific form of vocal music; *dhruṣṭa* designates the song-text meant to be sung in the Dhruṣṭa form of vocal music; this spelling is preferable to *dhruṣṭa*.

There is so far no satisfactory common transliteration system for words of Sanskrit and Persian origin; thence the inconsistencies in any writing employing both alphabets transliterated in Roman. For Persian words, transliteration will mainly follow the system adopted by John T. Platts, in his Dictionary of *Urdu, Classical Hindī and English* (1884), Oxford University Press, reprinted 1930...2nd Indian Edition, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1988, but with some irregularities, e. g. Shāh Jahān and Nāyaka Bakhshū, and *ṣ* of *ṣūfī* standing for the letter *ṣād* distinct from the *ṣ* of Viṣṇu. Personal names are variously noted, either rigorously transliterated like Śārāṅgadeva or 'Abd al-Ḥamīd Lāhaurī, or in their standard Romanized transcription, e. g. Sharma and Sarmadee. Quotations are given in their original spelling.

Abbreviations used in the Notes

Sah : *Sahasarasa, Nāyaka Bakhshū ke dhruṣṭadomī kā saṅgrah*, edited by Prem Lata Sharma, New Delhi, 1972.

PLS/IMJ : P. L. Sharma, 'Sahasarasa (a compilation of Dhruṣṭa texts ascribed to Bakhshū), Synopsis of a Treatise' in *Indian Music Journal*, vol. VIII-IX-X, Nos 15 to 20, Madras, 1972, '73, '74 : 41-48.

SR1 : I. Srivastava, *Dhruṣṭa, A Study of its Origin, Historical Development, Structure and Present State*, Delhi, 1980.

DA 86 : *Dhruṣṭa Annual*, Vol. I, published by the All India Kashi Raj Trust, on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust, Varanasi, 1986.

DA 87 : *Dhruṣṭa Annual*, Vol. II, Varanasi, 1987.

DA 88 : *Dhruṣṭa Annual*, Vol. III, Varanasi, 1988.

DA 89 : *Dhruṣṭa Annual* Vol. IV, Varanasi, 1989.

आदिम संग्रहों में प्राप्त ध्रुपदों का कथ्य

I. हजार ध्रुपद या सहसरस : बख्श के १००४ ध्रुपदों का संग्रह
डॉ० फ़ांस्वाज़ देल्वुआ 'नलिनी'
(सम्पादिका-कृतं सार-संक्षेप)

प्रस्तुत लेख, ध्रुपद के पदों के आदिम संग्रहों पर आधारित अध्ययन-मूलक लेखमाला का प्रथम चरण है। इस लेखमाला में सम्बद्ध फ़ारसी स्रोतों के और अद्यतन प्रकाशित अध्ययन के सन्दर्भ रहेंगे।

भारतीय सङ्गीत में 'वाग्गेयकार' की धारणा विलक्षण है, क्योंकि वह वाणी और गेय दोनों का रचयिता है। सङ्गीतरत्नाकर में उसके जो लक्षण दिये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि कवि और गायक दोनों के गुण उसमें अपेक्षित हैं, यथा—

“गीत के 'वाक्' अंश को 'मातु' और 'गेय' अंश को 'धातु' कहते हैं, जो 'वाक्' और 'गेय' दोनों की रचना करता है, वह 'वाग्गेयकार' है। उत्तम वाग्गेयकार के लक्षण या गुण इस प्रकार हैं :—

(१) 'शब्दानुशासन'—अर्थात् व्याकरणशास्त्र का ज्ञान। (२) 'अभिधान'—अर्थात् अमर-कोशादि में प्रवीणता, जिससे किसी भी शब्द के विविध पर्याय ज्ञात रहते हैं। (३) 'छन्द' के भेद-प्रभेदों का ज्ञान। (४) उपमा आदि अर्थालङ्कारों और अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों के प्रयोग में कुशलता। (५) रस (शृङ्गारादि) व भाव का ज्ञान (६) 'देशस्थिति' में चातुरी अर्थात् पाञ्चाल, गौड़ आदि देशों की संस्कृति के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान (७) अनेक भाषाओं का ज्ञान (८) कलाशास्त्र अर्थात् गीतादि समस्त कलाओं के शास्त्र की अभिज्ञता, तूर्यत्रितय (गीत-वाद्य-नृत्य) में चातुर्य (१०) हृद्य अर्थात् मनोरम 'शारीर' (शरीर के साथ उत्पन्न कण्ठध्वनि) (११) लय, ताल, कला का ज्ञान (१२) अनेक काकुओं का विवेक अर्थात् काकु (भाव-सूचक ध्वनिविकार अथवा देश, वाद्य, 'क्षेत्र' यानी मनुष्य शरीर आदि के भेद से ध्वनि वैशिष्ट्य या Timbre) के अनेक भेदों की समझ; (१३) प्रभूत प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) की उद्भावना का धनी होना, (१४) सुभगगेयता अर्थात् गान की सुश्रव्यता, (१५) देशी रागों का ज्ञान (१६) सभा को जीतने में वाक्पटुता (१७) राग-द्वेष का परित्याग (१८) सार्द्रता अर्थात् चित्त का भोगापन या सरसता (१९) उचितज्ञता अर्थात् औचित्य का ज्ञान (२०) अनुच्छिष्ट (जो जूठी न हो) उक्ति को बद्ध करना (२१) नूतन धातु (गेय) का निर्माण (२२) दूसरों के चित्त का ज्ञान (२३) प्रबन्धों के भेदों का प्रौढ़ ज्ञान (२४) द्रुत गति से गीतों का निर्माण, (२५) पदान्तर (विभिन्न पद अथवा प्रबन्ध का भेद-विशेष) का निर्माण (२६) त्रिस्थान-व्यापी गमकों में प्रौढ़ता (२७) आलसि में निपुणता और (२८) अवधान अर्थात् एकाग्रता।

मध्ययुग के ध्रुपदकार संगीतरत्नाकर से भली-भाँति परिचित थे। सहसरस में संकलित अनेक ध्रुपदों में संगीतरत्नाकर का 'सप्ताध्यायी' संज्ञा से उल्लेख किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के आदर्श पर संगीतरत्नाकर की सप्ताध्यायी संज्ञा

रूढ़ हो चुकी थी। अतः वाग्गेयकार के लक्षणों में अन्वित अपेक्षाएँ उन्हें अवश्य ज्ञात रही होंगी, और समूचे दरबारी वातावरण में उनका संस्कार व्याप्त रहा होगा। विशेषतः राजा मानसिंह तोमर के दरबार में, जहाँ कि ध्रुपद को परिनिष्ठित स्वरूप दिया गया। फ़ारसी स्रोतों में इस कार्य में संलग्न ध्रुपदकार नायक 'बख़्शू', 'मच्छू', और 'भिन्नू' के नाम मिलते हैं।* सहसरस का सङ्कलन १७वीं शताब्दी में शाहजहाँ की आज्ञा से हुआ था। स्वाभाविक है कि संकलन में शाहजहाँ की रुचि के अनुकूल पदों को ही स्थान मिला होगा। सहसरस की अनामिक फ़ारसी भूमिका में यह कहा गया है कि दो हजार ध्रुपद नायक बख़्शू के नाम से प्राप्त हुए थे जिनमें से एक हजार को विशिष्ट रूप से सुन्दर माना गया। ध्रुपदों के संग्रह में प्रामाणिकता की विशेष चिन्ता रखी गयी थी—ऐसा भी भूमिका में कहा गया है। दो हजार में से एक हजार चुनने में यदि देवस्तुतिपरक पद छूट गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जिन ध्रुपदों को संग्रह में स्थान मिला है, उन में 'गुन' (गायन-वादन-नृत्य में कौशल), रूप, नायक या आश्रयदाता की गुणज्ञता या पारखीपन, बहुनायकता, अथवा संगीत-शास्त्र के विषयों का वर्णन इत्यादि ही प्रमुख हैं। नायक के शौर्य अथवा राजनीतिज्ञता का कहीं कोई प्रसङ्ग नहीं है।

नायक बख़्शू के विषय में जानकारी उपर्युक्त फ़ारसी भूमिका के अतिरिक्त अबुल फ़ज़ल की आईन-ए-अकबरी (१५९५-९६ ई०), अब्द अल हमीद लाहौरी के 'पातशाहनामा' (१६२७-४७ ई०) और नवाब सैफ़खाँ 'फ़कीरुल्लाह' के राग-दर्पण (१६६६ ई०) में मिलती है। फ़कीरुल्लाह ने एक ध्रुपद नायक बख़्शू के नाम से उद्धृत किया है, जो कि 'सहसरस' में उपलब्ध नहीं है। इस से यह सङ्केत मिलता है कि बख़्शू के नाम से कई ऐसे ध्रुपद प्रचलित रहे होंगे, जिन को 'सहसरस' में स्थान नहीं मिला। यह पद इस प्रकार है—

राग सूरहो।

अरुन नयन नेह रंग मलीं/मलें।

आवत देख प्यारी आदर कर दर्पन महल मन ले आई।

जब ही प्यारी निज चीन (चीन्ह) चीन सकुवइ।

तब मुख मोर मुसकाई।

ये दो ही तुक उद्धृत हैं। इसीलिये बख़्शू की छाप भी नहीं है। स्पष्ट है कि यह खण्डिता नायिका का वर्णन है।

विष्णुपद और 'स्तुति' ये पद-नाम पृथक् रूप से अभिहित हैं, इस से क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि ध्रुपद केवल लौकिक शृङ्गार का ही माध्यम था? केवल 'सहसरस' के आधार पर इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो सकता। ध्रुपदसंग्रहों की पाण्डुलिपियों के व्यापक अध्ययन से ही प्रामाणिक निर्णय हो सकेगा, [किन्तु आज मौखिक परम्परा में ध्रुपदों के कथ्य को सरसरी तौर पर भी देखें तो उन में देवस्तुति की मात्रा बहुत कम नहीं है—सम्पा०]

*बेजू बावरा का नाम न पाया जाना आश्चर्यजनक है। —सम्पा०

OUR CONTRIBUTORS

1. (Rai) Anand Krishna, M. A., Ph. D. (B. H. U.) Retd. Professor and Head, Dept. of History of Art, B. H. U. Internationally renowned as an expert on Indian Painting, specialisation in Mughal period; author of several research papers and editor of several publications on Art and Culture. Address—Seeta Niwas, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
2. Bastit, L. (Ms), disciple of N. Z. Dagar, Secretary, Dhrupad Society, 379, Asiad Village, New Delhi-49.
3. DELVOYE, Francoise, 'Nalini', is a French Indologist from the Sorbonne University, Paris. After completing a critical edition and French translation of the *Bhām̐yar Gīt* of Nand-dās (Ph. D., 1976), she started research work on Dhrupad, from a literary point of view. She is now completing her D. Litt. dissertation on the Dhrupad compositions attributed to Tānsen; as a research-fellow of the French "Centre for Human Sciences" affiliated to the Centre for Historical Studies, J. N. U., New Delhi; she is presently collecting the Persian sources on Indian music, in collaboration with Prof. Shahab Sarmadec.

Address : Dr. (Ms) F. DELVOYE 'Nalini', c/o C. S. H., Cultural Section of the French Embassy, 2 Aurangzeb Road, NEW DELHI 110 011. Phone N^o 301 62 59.

4. Hurie, Harriotte, Ranvig, is a student of Hindustani (Vocal, Khayal) under Late Sri M. V. Thakar of B. H. U. (1971-78 with breaks) and Pt. Balwant Rai Bhatt, also of B. H. U., 1978-to-date (with breaks), studied Musicology with Prof. Prem Lata Sharma (1976-78) and obtained a Master's degree in Musicology from B. H. U. in 1978, holds a Master's degree in Ethno-musicology from the University of Weseleyan (Middle-town, Connecticut, U. S. A.), was until recently doing private treaching and performing Indian music in the U. S. A.; currently doing research in the *Tarānā* and *Chatarang* forms of Hindustani music, under the guidance of Pt. Balwant Rai Bhatt and Prof. Prem Lata Sharma, under a fellowship from the American Institute of Indian Studies. Present address—c/o Pt. Balwant Rai Bhatt, 7, Gandhi Nagar, Naria, Varanasi-221 005. Permanent address—5, Lester Terrace, Somerville, Ma. 02144 U. S. A.

5. Jaiswal, Radheshyam, M. A., M. Mus., Ph. D. (all from B. H. U.), Lecturer in Musicology, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh (M. P.) 491-881.
6. Ratate. Vinayaka Ramachandra, traditional Pandit of a renowned Vedic family of Varanasi; specialisation in Atharvaveda and Purāṇa. Presently Research Assistant, Dept. of Musicology, B. H. U. Varanasi-221005, Author of 'Atharvavede Rājanitih' (Sanskrit).
7. Sanyal, Ritwik, M. A. Philosophy, (Bombay University) and M. Mus. (Vocal Music, B. H. U.) Ph. D. (B. H. U.), Lecturer in Vocal Music, Faculty of Performing Arts, B. H. U. Has had intensive training in Dhrupad in the Dagar tradition from Ud. Zia Mohiuddin Dagar. Has participated in almost all Dhrupad festivals held in the country at various places during the last fifteen years. Has also given performances abroad and conducted workshops on Dhrupad in Austria and U. K. Author of 'Philosophy of Music' and 'Hindu Music'. Address—M 5/6, Manas Mandir Colony, Varanasi-221-005.
8. Sharma, Prem Lata, Ex-Dean, Faculty of Music and Fine Arts and later Faculty of Performing Arts, Retd. Professor in Musicology (all in B. H. U.), Ex-Vice-Chancellor, Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya Khairagarh (M. P.) Address—'Amnāya', 209/1, Near Nand Nagar, Karaundi, Varanasi-221-005.
9. Tiwari, Mangala, Lecturer in Music, Vasant College for Women, Rajghat, Varanasi; M. A. in Hindi, studied music under Sri M. V. Kalvint, a talented performer. Address—Bhaskar Bhawan, Ravindrapuri, Varanasi-221-005.
10. Tripathi Kamalesh Datta, Dean, Faculty of Sanskrit Learning & Theology, Head, Dept. of Dharmāgama under the same Faculty, B. H. U. Ex-Director, Kalidas Akadami, Ujjain; Director, Project of a critical edition of Nāṭyaśāstra, approved by the Ford Foundation. Address—Amnāya 209/1, Near Nand Nagar, Karaundi, Varanasi-221-005.
11. Upadhyaya, Adinath, M. Musicology (B. H. U.), awarded Ph. D. degree in Musicology (B. H. U.) on thesis entitled 'A Critical Study of Bhava Bhatta's Works' Address—374 A Near Central School, D. L. W., Varanasi.

हमारे निबन्ध-लेखक

१. (राय) आनन्द कृष्ण, एम० ए०, पीएच० डी०, अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, कला इतिहास विभाग, का० हि० वि० वि०। भारतीय चित्रकला के विशेषज्ञ के रूप में विश्वविख्यात। मुगल-कला में विशेषज्ञता। अनेक शोध-प्रबंधों के प्रणेता एवं भारतीय कला एवं संस्कृति-सम्बन्धी प्रकाशनों के सम्पादक। पता—सीतानिवास, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी २२१००५।
२. बास्टिट० एल० (मुथ्री), उ० ना० ज० डागर की शिष्या, सचिव, ध्रुपद सोसाइटी, ३७९, खेलगाँव (एशियाड विलेज), नई देहली ४९।
३. देल्वुआ फ़्रान्सवाज 'नलिनी', सोरबोने विश्वविद्यालय की प्राच्य विदुषी; नन्ददास-कृत भैरवगीत का पाठ-सम्पादन और फ़रेञ्च भाषा में अनुवाद (पीएच० डी० १९७६) करने के बाद इन्होंने ध्रुपद की रचनाओं का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन प्रारम्भ किया। सम्प्रति तानसेन की ध्रुपद रचनाओं पर अपना डी० लिट० शोध प्रबंध पूर्ण कर रही हैं। इस समय जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली के अंतर्गत 'ऐतिहासिक अध्ययन केन्द्र' से सम्बद्ध फ़रेञ्च मानव वेज्ञानिकी केन्द्र की शोध 'फेलो' के रूप में प्रो० सरमादी के साथ भारतीय संगीत के फारसी स्रोतों के संकलन में कार्यरत। पता—डा० (मुथ्री) एफ० देल्वुआ 'नलिनी', द्वारा सी० एस० एच०, फ़्रेंच दूतावास का सांस्कृतिक अनुभाग, २ औरंगजेब रोड, नयी दिल्ली ११००११, दूरभाष—३०१६२५९।
४. ह्यारी, हैरिअट रैनविग, हिन्दुस्तानी ख्याल गायन में शिक्षण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्व० एम० वी० ठकार से (१९७१ से ७८ तक, अंतराल के साथ) तथा का० हि० वि० के ही पं० बलवन्त राय भट्ट से (१९७६ से आज तक अंतराल के साथ), प्रो० प्रेमलता शर्मा द्वारा संगीतशास्त्र की शिक्षा ग्रहण करते हुए (१९७६-७८) १९७८ में संगीतशास्त्र में का० हि० वि० की स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण। वेस्लीयान विश्वविद्यालय (मिडिल टाउन, कनेक्टिकट, सं० रा० अमेरिका) से स्नातकोत्तर उपाधि-प्राप्त। अभी कुछ पहले तक व्यक्तिगत रूप से भारतीय संगीत के शिक्षण का कार्य एवं गान-प्रस्तुति कर रही थीं। सम्प्रति अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज़ की फेलोशिप के साथ पं० बलवन्त राय भट्ट तथा प्रो० प्रेमलता शर्मा के निर्देशन में हिन्दुस्तानी संगीत की तराना और चतुरंग शैलियों के अनुसंधान कार्य में रत, वर्तमान पता, द्वारा पं० बलवन्त राय भट्ट, ७ गांधीनगर, नरिया,

वाराणसी २२१००५, स्थायी पता—लेस्टर टैरेस, सोमरविला, एम-ए ०२१४४ (सं० रा० अमेरिका)।

५. जायसवाल, राधेश्याम, एम० ए०, एम० म्यूज०, पी० एच० डी० (सभी का० हि० वि० से), इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म० प्र०) ४९१८८१, में संगीत शास्त्र विभाग में प्रवक्ता पद पर कार्यरत।
६. रटाटे वि० रा०, वाराणसी के प्रख्यात वैदिक परिवार से सम्बद्ध पारंपरिक विद्वान्, अथर्ववेद तथा पुराण में वैशिष्ट्य-प्राप्त, 'अथर्ववेदे राजनीतिः' (संस्कृत) ग्रन्थ के प्रणेता। सम्प्रति संगीत-शास्त्र विभाग, का० हि० वि० वाराणसी २२१००५, में शोध सहायक के रूप में कार्यरत।
७. सान्याल, ऋत्विक्, एम० ए० (दर्शनशास्त्र, बम्बई विश्वविद्यालय) तथा एम० म्यूज० (गायन का० हि० वि०), पी० एच० डी० (का० हि० वि०)। सम्प्रति का० हि० वि० के संगीत एवं नाट्य संकाय में प्रवक्ता पद पर कार्यरत। उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर द्वारा डागर परंपरा की ध्रुपद शैली में सघन प्रशिक्षण-प्राप्त। पिछले पन्द्रह वर्षों में देश में आयोजित ध्रुपद के प्रायः सभी सम्मेलनों में भाग लिया है। विदेशों में भी ध्रुपद कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं। इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रिया में 'ध्रुपद' पर कार्यशाला का संचालन। 'हिन्दू म्युज़िक' तथा 'फिलासफी आफ म्युज़िक' के रचयिता। पता—एम ५/६, मानस मंदिर कालोनी, वाराणसी २२१००५।
८. शर्मा, प्रेमलता—संगीत एवं ललित कला संकाय का० हि० वि० की तथा बाद में संगीत एवं नाट्य संकाय की (भूतपूर्व) 'डीन' तथा संगीतशास्त्र विभाग में कार्य करते हुए सेवानिवृत्त प्रोफेसर, भूतपूर्व कुलपति इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म० प्र०)। पता—'आम्नाय', २०९/१, नन्दनगर के समीप, करौंदी, वाराणसी—२२१००५।
९. तिवारी, मंगला—वसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी में संगीत प्रवक्ता पद पर कार्यरत, हिन्दी में एम० ए०, श्री एम० बी० कालविष्ट से संगीत-शिक्षा-प्राप्त प्रतिभाशालिनी गायिका। पता—खीन्द्रपुरी, वाराणसी, २२१००५।
१०. त्रिपाठी, कमलेशदत्त—'डीन', संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय तथा उसी संकायान्तर्गत धर्मगम विभाग के विभागाध्यक्ष। कालिदास अकादमी, उज्जैन के भू० पू० निदेशक।
११. उपाध्याय, आदिनाथ, एम० म्यूज़िकॉलॉजि, पीएच० डी० "भाव भट्ट के ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन" शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर। पता—३७४ ए, सेंट्रल स्कूल के पास, डी० लो० कारखाना, वाराणसी।

EDITOR'S NOTE

The Dhrupad Annual has completed five years. It is but proper to review the material presented in the five numbers.

The study (not training) of any form/genre of Indian music has to be mainly centred around an analysis of its structure, thought-content of song-text, *rāga-tāla*-scheme, analysis of the nature of *nibaddha* (composed) and *anibaddha* (improvised) components etc. Accordingly, we have presented valuable material on the structure of Dhrupad though a study of its *dhātus* viz. *sthāyī* or *dhruva*, *antarā* and the like, a critical evaluation of the studies in song-texts conducted till now, an important step in forwarding these studies through notices of Persian-sources, problems arising from 'signature', technical terms found in song-texts, the *tāla*-scheme, relationship with dance, analysis of the definition of Dhrupad, information on the two main living traditions viz. Darbhanga and Dagar as well as Betia etc. Sociological study of the musical traditions associated with temples in North India, has been initiated with the article devoted to Puruṣottam Das Pakhawaji. The possibility of Dhrupad having a similar spiritual motivation as that in Caryāgiti has also been indicated.

The present number embodies initial steps in some new directions, such as—description of the total impact of Dhrupad by discerning listeners, beginning of a musical study of Tamil Divya Prabandham, in order to carry forward the search for a wider perspective on Dhrupad, beginning of a serious study of the verbal content of Dhrupad texts with *Sahasras*, a search of the devotional roots of Dhrupad in Vedas and Purāṇas coupled with a view of its pervasion in the traditions of *kīrtana* in various regions of the country, presentation of collative material for textual criticism etc. It is hoped that a study of the relationship between *Viṣṇupad* and Dhrupad will be possible in due course. The texts of Dhrupad are valuable for study and 'enjoyment' both as literary pieces and components of musical rendering; this is an unique feature of Indian music.

Characteristics of the Dager tradition in the use of *svara* and *ālāp* have been described and this series will continue. A small beginning has also been made in presenting biographical sketches of Dhrupad musicians.

As a future plan we perpose to present information on the tradition of Dhrupad prevalent in some of the villages in Uttar Pradesh and Bihar, besides carrying forward research in the above directions.

Presentation of bibliographical material has been a valued component of this journal.

BIBLIOGRAPHY ON *DHRUPAD* (V)

Dr. FRANCOISE DELVOYE, 'NALINI'

Abbreviation : D. A. 89 : *Dhrupad Annual* 1989, Vol. IV, Varanasi, 1989.

Introduction : The fifth issue of the non-critical *Bibliography on Dhrupad* presents some more titles of interest for the study of Dhrupad; they include works in English and Persian recently published or reprinted, and references not yet mentioned in previous issues. The names of authors are alphabetically classified (except for Persian works, given in chronological order), according to the system adopted in the first volume (See D. A. 86 : 95-115) and maintained in later issues (See D. A. 87 : 119-121, D. A. 88 : 98-102 and D. A. 89 : 105-107).

I. Books and Articles with Reference to Dhrupad :

A. English :

Amarnath, Pandit—*Living Idioms in Hindustani Music : A Dictionary of Terms and Terminology*, Vikas Publishing House Pvt Ltd, New Delhi, 1989. [17-19, 41,81].

Athavale, V. R.—'Khyal Singing and Bandish', first published in *Journal of the Indian Musicological Society*, Vol. 7, N^o 3, Sept. 1976; reprinted in *Essays in Musicology*, ed. by R. C. Mehta, Indian Musicological Society, Bombay and Baroda, 1983; photo-copy print, 1989 : 99-104. [passim].

Barnett, Elise B.—'Special Bibliography : Art Music of India', in *Ethnomusicology*, Vol. XIV, May 1970 : 278-312, [passim].

Bhanu, Dharma—'Promotion of Music by the Turco-Afghan Rulers of India', in *Islamic Culture*, Vol. XXIX, 1955 : 9-31. [20, 23, 27 and passim].

Deshpande, Vamanrao H.—*Indian Musical Traditions, An Aesthetic Study of the Gharanas in Hindustani Music*, Translated from Marathi by S. H. Deshpande and V. C. Devadhar, Popular Prakashan, Bombay, First published in 1973, 2nd revised and enlarged edition, 1987. [4, 33, 78-80, 97-8, 137, 139-140 159, 165, 172-7, 179].

Deva, B. Chaitanya—*Musical Instruments of India, Their History and Development*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd, New Delhi, First published in 1978, 2nd revised edition, 1987. [138]

- Gangoly, O. C.—*Rāgas and Rāginīs, A Pictorial and Iconographic Study of Indian Musical Modes based on Original Sources*, Volume I : Text, History of Ragas, Iconography, Ragmala Texts and Criticism, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, First published in 1935, reprinted 1989. [50-54 and passim]
- Gautam, M. R.—*Evolution of Rāga and Tāla in Indian Music*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1989. [28, 162, 249, 254]
- Joshi, G. N.—‘Khyal-gayaki and its Presentation’, first published in *Journal of the Indian Musicological Society*, Vol. 7, N^o 3, Sept. 1976 : reprinted in *Essays in Musicology*, ed. by R. C. Mehta, Indian Musicological Society, Bombay and Baroda, 1983; photo-copy print, 1989 : 109-119. [passim]
- Khan, Dargah Quli—*Muraqqa^c-e-Delhi, The Mughal Capital in Muhammad Shah's Time*, English Translation from Persian, with an Introduction and Notes by Chander Shekhar and Shama Mitra Chenoy, Deputy Publication, Delhi, 1989. [82] See the references of the Persian Text and its Urdu translation, infra IV.
- Kichlu, Vijay—‘Gharānās in Hindustāni Vocal Music’ in *Aspects of Indian Music, A Collection of Essays*, ed. by Sumati Mutatkar, Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1987 : 106-112. [passim]
- Malik, M. Seed—*The Musical Heritage of Pakistan*, Indara Saqafat-e-Pakistan Islamabad, 1983. [57-60]
- McGregor, Ronald Sturat, *Hindi Literature from its Beginning to the Nineteenth Century*, Otto Harrassowitz, Wiesbaden, 1984. [119-120]
- Misra, Susheela—‘The Khayāl’ in *Aspects of Indian Music, A Collection of Essays*, ed. by Sumati Mutatkar, Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1987 : 84-89. [passim]
- Prasad, Onkar—‘Contemporary Indian Music : A Classification with special reference to the field of Banaras’, in *Man in India*, Vol. 58, N^o 3, July-September 1978 : 208-231. [228-9]
- Ranade, G. H.—*Hindusthāni Music, An Outline of its Physics and Aesthetics*, First published, Bombay, 1939; S. Lal and Co., Delhi, 2nd revised edition, 1989. [125, 141-5]
- Rizvi, Saiyid Athar Abbas—*A History of Sufism in India*, Vol. I, Early Sufism and its History in India to 1600 AD, Munshiram Manoharlal, New Delhi 1978 [359-362]; Vol. II, From Sixteenth Century to Modern Century, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1983 [278]

II. Books and Articles on Dhrupad :

A. English

- Basra, Khalid and Richard Widdess, 'Dhrupad in Pakistan : The Talwandi Gharānā', in *D. A.* 89 : 1-10; Hindi Summary by the Editor : 11-15 : 'पाकिस्तान में ध्रुपद : तलवंडी घराना', खालिद बसरा और रिचर्ड विडैस ।
- Costanzo, Maria Maurizia—'Dhrupad and Caryāgiti : some considerations on the rituality of Dhrupad', in *D. A.* 89 : 71-74; Hindi Summary by the Editor : 75-76 : ध्रुपद और चर्यागीति : 'ध्रुपद के कर्मकाण्डीय पक्ष पर कुछ विचार', मरिया मरिज़्या कोस्टेंज़ो ।
- Delvoye, Francoise 'Nalini'—'Bibliography on Dhrupad' (IV), in *D. A.* 89 : 105-107.
- Dhrupad Annual* 1989, Vol. IV, Ed. Prem Lata Sharma, published by the All India Kashi Raj Trust, on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust, Varanasi, 1989; 'ध्रुपद वार्षिकी 1989', चतुर्थाङ्क, सम्पादिका प्रेयलता शर्मा, वाराणसी, महाशिवरात्रि वि० सं० 2045.
- Gaston, Anne-Marie—'The hereditary drummers of the Śrī Nāthji Temple : The Family History of Pakhāvājī Guru Purushottam Dās', in *D. A.* 89 : 16-57, one black and white plate facing p. 16; Hindi Summary by the Editor : 58-59 : 'श्रीनाथजी मन्दिर के आनुवंशिक पखावजी : पखावजी गुरु पुरुषोत्तमदास का वंशगत इतिहास', ऐन-मेरी गार्स्टों (अंजलि) ।
- Joshi, Rita—'The Dagers and Dhrupad', in *India Magazine*, May 1989 : 60-4.
- Mitra, Falguni—'Betīāh Gharānā', in *D. A.* 89 : 77-80; Hindi Summary by the Editor : 81-82 : 'बेतिया घराना', फाल्गुनी मित्र ।
- Mutatkar, Sumati—'Dhrupada : its Legacy and Dynamics', in *Aspects of Indian Music, A Collection of Essays*, ed. by Sumati Mutatkar, Sangeet Natak Akademi, New Delhi, 1987 : 76-83.
- Ray, Sukumar—'Phases of Music of Bengal in the Nineteenth Century : Dhrupad' in *Journal of the Indian Musicological Society*, Vol. 11, No 3 & 4, Sept. & Dec. 1980 : 5-13.
- Sanyal, Ritwik—'The Dagar Tradition : Voice and Tone', in *D. A.* 89 : 91-94. Hindi Summary by the Editor : 95-96 : डागर परम्परा : कण्ठ और स्वर, ऋत्विक् सान्याल ।
- Sanyal, Ritwik and Joep Bor—'Dhrupad News', in *D. A.* 89 : 98-102, Hindi Summary by the Editor : 103-4 : 'ध्रुपद समाचार (सन् 1988)', ऋत्विक् सान्याल और जूय बोर् ।

Sanyal, Ritwik and Peter Müller—'Discography : Compact Discs and Cassettes', in *D. A.* 80 : 108-9.

Sarmadee, Shahab—'From Asta-Padas of Jayadeva to Dhruvapada', *D. A.* 89 : 60-66; Hindi Summary by the Editor : 67-70 : जयदेव के अष्टपद से ध्रुवपद तक; शहाब समंदी ।

B. Hindi :

पंडित जमराज और मुकुंद लाठ का सवाल जवाब :

(1) 'सिखिया, दिहिया और परखिया', जनसत्ता में, दिल्ली, 14-12-88=7

(2) 'कभी ध्रुपद तो कभी खयाल', जनसत्ता में, दिल्ली, 21-12-88=7

प्रसाद, दिनेश, 'स्व० प० मखनलालजी पखावजी', in *D. A.* 89 : 88-89; English Summary by the Editor : 90 : 'Late Pt. Makkhan Lalji Pakhāvaji', by Dinesh Prasad.

मिश्र, श्रीकान्त, 'स्व० प० अमरनाथ मिश्रजी के संस्मरण', in *D. A.* 89 : 83-85; English Summary by the Editor : 86-87 : 'Reminiscences of Late Pt. Amarnath Misra', by Srikant Misra.

IV. Persian Sources on Music, With Reference to Dhrupad, in chronological order :

‘Abdul Wāhid Bilgrāmi-*Ḥadā'iq*, 'The Truths of India' (1566), translated into Hindi with an Introduction by Saiyid Athar Abbās Rizvi, Nāgarīpracārīṇī Sabhā, Kāśī, 1957. (The work gives a Sufi interpretation of the Braj words used in *Dhrupad* (37-71), *Viṣṇupad* (73-85) and other song-forms (87-102))

Navāb Saif Khān 'Faqrullāh-*Rāga Darpana*, 'The Mirror of Raga' (1666), ed. by N. H. Anṣārī and Sh. Shukla, with the *Ṣautal-Nāqaus* of Muḥammad Osmān Qais, in *Persian Research Journal Special Number*, Deptt. of Persian, University of Delhi, 1981 : 11-86 [34] (The edited text of 'Faqrullāh' is followed by various lists of Sanskrit and Hindi equivalents in Roman transcription of musical terms, titles of books quoted, personal and geographical names : 89-109)

Dargah Quli Khan—*Muraqqa'at-e Delhi*, ed. with an Urdu translation by N. H. Anṣārī, Deptt. of Urdū, University of Delhi, 1981; Persian text : 21-113 [86] Urdu translation : 117-203 [177]

BOARD OF THE TRUSTEES
OF
THE MAHARAJA BENARES VIDYA MANDIR TRUST

1. His Highness Maharaja Dr. Vibhuti Narain Singh, M. A., D. Litt.; Fort Ramnagar, Varanasi---(*Chairman*).
2. Maharaja Kumar Dr. Raghubir Singh, M. A., D. Litt., LL. B.; Sitamau (Malawa).
3. Pt. Girdhari Lal Mehta, Managing Director, Jardine Handerson Ltd., Scindia Steam Navigation Ltd.; Trustee : Vallabhram-Saligram Trust; Calcutta.
4. Maharaj Kumar Sri Anant Narain Singh; Fort Ramnagar, Varanasi.

DHRUPAD MELA SAMITI
of
MAHARAJA BENARES VIDYA MANDIR TRUST

His Highness Maharaja Dr. Vibhuti Narain Singh.

Dr. Veer Bhadra Mishra, Mahant, Gosvami Tulsi Das Akhara, Varanasi.

Dr. (Kumari) Prem Lata Sharma; Varanasi.

Dr. K. C. Gangrade : Ex-Dean, Faculty of Performing Arts, B. H. U., Varanasi.

Dr. (Srimati) N. Rajam Dean, Faculty of Preforming, Arts, B. H. U.

Raja Bahadur Chhatrapati Singh.

Sri Rajeshwar Acharya.

Sri Y. N. Thakur, Secretary.

PUBLICATIONS OF THE ALL INDIA KASHIRAJA TRUST

Critical Editions and Translations

1. <i>Vāmana Purāṇa</i> —Crit. Ed.	Rs. 250
2. <i>Vāmana Purāṇa</i> —Text with English Translation	Rs. 200
3. <i>Vāmana Purāṇa</i> —Text with Hindi Translation	Rs. 100
4. <i>Kūrma Purāṇa</i> —Crit Ed.	Rs. 250
5. <i>Kūrma Purāṇa</i> —Text with English Translation	Rs. 200
6. <i>Kūrma Purāṇa</i> —Text with Hindi Translation	Rs. 100
7. <i>Varāha Purāṇa</i> —Crit. Ed.	
Ordinary edition—Rs. 265/-; Deluxe edition—	Rs. 1000
8. <i>Varāha Purāṇa</i> —Text with English Translation	
Ordinary edition—Rs. 220/-; Deluxe edition—	Rs. 700
9. <i>Varāha Purāṇa</i> (Text only)	Rs. 100
10. <i>Varāha Purāṇa</i> —Hindi Translation	Rs. 240
11. <i>Devīmāhātmya</i>	Rs. 10
12. <i>Svargakhaṇḍa of the Padma Purāṇa</i>	Rs. 40
13. <i>Rāmacharit Mānasa</i>	Rs. 20
14. <i>Mānasakhaṇḍa of the Skandapurāṇa</i>	Under Print

Studies

15. <i>Matsya Purāṇa</i> —A Study by V. S. Agrawala	Rs. 40
16. <i>Garuḍa Purāṇa</i> —A Study By N. Gangadharan	Rs. 40
17. <i>Nārada Purāṇa</i> —A Study By K. Damodaran Nambiar	Rs. 75
18. Nīti-Section of <i>Purāṇārthasaṁgraha</i> By V. Raghavan	Rs. 2
19. <i>Vyāsa-Praśasti</i> By V. Raghvan	Rs. 1
20. <i>Greater Rāmāyaṇa</i> By Raghavan	Rs. 30
21. <i>Viṣṇupurāṇa Viṣayānukramaṇi</i> By Madhvacharya Adya	Rs. 5
22. <i>Bṛihaspati-Samhitā of the Garuḍa Purāṇa</i> By L. Sternbach	Rs. 10
23. <i>Mānavadharmasāstra</i> [I-III] and <i>Bhaviṣyā Purāṇa</i>	Rs. 20
24. Dr. Hazra Commemoration Volume, Part I	Rs. 150
25. Index of Names in the <i>Linga Purāṇa</i> by N. Gangadharan	Rs. 100

Journal

26. <i>Purāṇa</i> —Half Yearly Research Journal	
Annual Subscription—Inland	Rs. 53, £ Foreign 5
27. DHRUPAD Annual Subscription	Rs. 50

*The books can be had of the General Secretary, All-India Kashiraj Trust, Fort, Ramanagar, Varanasi and also from all leading Indological Book-Sellers.